श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

श्री हरि गीता हिन्दी

हरिगीता

पहला अध्याय

राजा धृतराष्ट्र ने कहा -

रण- लालसा से धर्म- भू, कुरुक्षेत्र में एकत्र हो ।
मेरे सुतों ने, पाण्डवों ने क्या किया संजय कहो ॥ 1॥

संजय ने कहा -

तब देखकर पाण्डव- कटक को व्यूह- रचना साज से ।
इस भाँति दुर्योधन वचन कहने लगे गुरुराज से ॥ 2॥

आचार्य महती सैन्य सारी, पाण्डवों की देखिये ।
तव शिष्य बुधवर द्रुपद- सुत ने दल सभी व्यूहित किये ॥ 3॥

भट भीम अर्जुन से अनेकों शूर श्रेष्ठ धनुर्धरे ।
सात्यिक द्रुपद योद्धा विराट महारथी रणबांकुरे ॥ 4 ॥

काशी नृपति भट धृष्टकेतु व चेकितान नरेश हैं ।
श्री कुन्तिभोज महान पुरुजित शैब्य वीर विशेष हैं ॥ 5॥

श्री उत्तमौजा युधामन्यु, पराक्रमी वरवीर हैं ।
सौभद्र, सारे द्रौपदेय, महारथी रणधीर हैं ॥ 6 ॥

द्विजराज! जो अपने कटक के श्रेष्ठ सेनापति सभी ।
सुन लीजिये मैं नाम उनके भी सुनाता हूँ अभी ॥ 7 ॥

हैं आप फिर श्रीभीष्म, कर्ण, अजेय कृप रणधीर हैं ।
भूरिश्रवा गुरुपुत्र और विकर्ण से बलवीर हैं ॥ 8 ॥

रण साज सारे निपुण शूर अनेक ऐसे बल भरे ।
मेरे लिये तय्यार हैं, जीवन हथेली पर धरे ॥ 9 ॥

श्री भीष्म- रक्षित है नहीं, पर्याप्त अपना दल बड़ा ।
पर भीम- रक्षा में उधर, पर्याप्त उनका दल खड़ा ॥ 10 ॥

इस हेतु निज- निज मोरचों पर, वीर पूरा बल धरें ।
सब ओर चारों छोर से, रक्षा पितामह की करें ॥ 11॥

कुरुकुल- पितामह तब नृपति- मन मोद से भरने लगे ।
कर विकट गर्जन सिंह- सी, निज शङ्ख- ध्वनि करने लगे ॥ 12॥

फिर शंख भेरी ढोल आनक गोमुखे चहुँ ओर से ।
सब युद्ध बाजे एक दम बजने लगे ध्वनि घोर से ॥ 13॥

तब कृष्ण अर्जुन श्वेत घोड़ों से सजे रथ पर चढ़े ।
निज दिव्य शंखों को बजाते वीरवर आगे बढ़े ॥ 14॥

श्रीकृष्ण अर्जुन ' पाञ्चजन्य' व ' देवदत्त' गुंजा उठे ।
फिर भीमकर्मा भीम ' पौण्ड्र' निनाद करने में जुटे ॥ 15॥

करने लगे ध्वनि नृप युधिष्ठिर, निज ' अनन्तविजय' लिये ।
गुंजित नकुल सहदेव ने सु- ' सुघोष' ' मणिपुष्पक' किये ॥ 16॥

काशीनरेश विशाल धनुधारी, शिखण्डी वीर भी ।
भट धृष्टद्‌युम्न, विराट, सात्यकि, श्रेष्ठ योधागण सभी ॥ 17॥

सब द्रौपदी के सुत, द्रुपद, सौभद्र बल भरने लगे ।
चहुँ ओर राजन्! वीर निज- निज शङ्ख- ध्वनि करने लगे ॥ 18 ॥

वह घोर शब्द विदीर्ण सब कौरव- हृदय करने लगा ।
चहुँ ओर गूंज वसुन्धरा आकाश में भरने लगा ॥ 19 ॥

सब कौरवों को देख रण का साज सब पूरा किये ।
शस्त्रादि चलने के समय अर्जुन कपिध्वज धनु लिये ॥ 20॥

श्रीकृष्ण से कहने लगे आगे बढ़ा रथ लीजिये ।
दोनों दलों के बीच में अच्युत! खड़ा कर दीजिये ॥ 21॥

करलूं निरीक्षण युद्ध में जो जो जुड़े रणधीर हैं ।
इस युद्ध में माधव! मुझे जिन पर चलने तीर हैं ॥ 22 ॥

मैं देख लूं रण हेतु जो आये यहाँ बलवान् हैं ।
जो चाहते दुर्बुद्धि दुर्योधन- कुमति- कल्याण हैं ॥ 23 ॥

संजय ने कहा - -
श्रीकृष्ण ने जब गुडाकेश- विचार, भारत! सुन लिया ।
दोनों दलों के बीच में जाकर खड़ा रथ को किया ॥ 24 ॥

राजा, रथी, श्रीभीष्म, द्रोणाचार्‍य के जा सामने ।
लो देखलो! कौरव कटक, अर्जुन! कहा भगवान् ने ॥ 25 ॥

तब पार्थ ने देखा वहाँ, सब हैं स्वजन बूढ़े बड़े ।
आचार्य भाई पुत्र मामा, पौत्र प्रियजन हैं खड़े ॥ 26 ॥

स्नेही ससुर देखे खड़े, कौन्तेय ने देखा जहाँ ।
दोनों दलों में देखकर, प्रिय बन्धु बान्धव हो वहाँ ॥ 27 ॥

कहने लगे इस भाँति तब, होकर कृपायुत खिन्न से ।
हे कृष्ण! रण में देखकर, एकत्र मित्र अभिन्न- से ॥ 28 ॥

होते शिथिल हैं अङ्ग सारे, सूख मेरा मुख रहा ।
तन काँपता थर- थर तथा रोमाञ्च होता है महा ॥ 29 ॥

गाण्डीव गिरता हाथ से, जलता समस्त शरीर है ।
मैं रह नहीं पाता खड़ा, मन भ्रमित और अधीर है ॥ 30 ॥

केशव! सभी विपरीत लक्षण दिख रहे, मन म्लान है ।
रण में स्वजन सब मारकर, दिखता नहीं कल्याण है ॥ 31 ॥

इच्छा नहीं जय राज्य की है, व्यर्थ ही सुख भोग है ।
गोविन्द! जीवन राज्य- सुख का क्या हमें उपयोग है ॥ 32 ॥

जिनके लिये सुख- भोग सम्पति राज्य की इच्छा रही ।
लड़ने खड़े हैं आश तज धन और जीवन की वही ॥ 33 ॥

आचार्यगण, मामा, पितामह, सुत, सभी बूढ़े बड़े ।
साले, ससुर, स्नेही, सभी प्रिय पौत्र सम्बन्धी खड़े ॥ 34 ॥

क्या भूमि, मधुसूदन! मिले त्रैलोक्य का यदि राज्य भी ।
वे मारलें पर शस्त्र मैं उन पर न छोड़ूँगा कभी ॥ 35 ॥

इनको जनार्दन मारकर होगा हमें संताप ही ।
हैं आततायी मारने से पर लगेगा पाप ही ॥ 36 ॥

माधव! उचित वध है न इनका बन्धु हैं अपने सभी ।
निज बन्धुओं को मारकर क्या हम सुखी होंगे कभी ॥ 37 ॥

मति मन्द उनकी लोभ से, दिखता न उनको आप है ।
कुल- नाश से क्या दोष, प्रिय- जन- द्रोह से क्या पाप है ॥ 38 ॥

कुल- नाश दोषों का जनार्दन! जब हमें सब ज्ञान है ।
फिर क्यों न ऐसे पाप से बचना भला भगवान है ॥ 39 ॥

कुल नष्ट होते भ्रष्ट होता कुल- सनातन- धर्म है ।
जब धर्म जाता आ दबाता पाप और अधर्म है ॥ 40 ॥

जब वृद्धि होती पाप की कुल की बिगड़ती नारियाँ ।
हे कृष्ण! फलती फूलती तब वर्णसंकर क्यारियाँ ॥ 41 ॥

कुलघातकी को और कुल को ये गिराते पाप में ।
होता न तर्पण पिण्ड यों पड़ते पितर संताप में ॥ 42 ॥

कुलघातकों के वर्णसंकर- कारकी इस पाप से ।
सारे सनातन, जाति, कुल के धर्म मिटते आप से ॥ 43 ॥

इस भाँति से कुल- धर्म जिनके कृष्ण होते भ्रष्ट हैं ।
कहते सुना है वे सदा पाते नरक में कष्ट हैं ॥ 44 ॥

हम राज्य सुख के लोभ से हा! पाप यह निश्चय किये ।
उद्यत हुए सम्बन्धियों के प्राण लेने के लिये ॥ 45 ॥

यह ठीक हो यदि शस्त्र ले मारें मुझे कौरव सभी ।
निःशस्त्र हो मैं छोड़ दूँ करना सभी प्रतिकार भी ॥ 46 ॥

संजय ने कहा - -
रणभूमि में इस भाँति कहकर पार्थ धनु- शर छोड़के ।
अति शोक से व्याकुल हुए बैठे वहीँ मुख मोड़के ॥ 47 ॥
पहला अध्याय समाप्त हुआ

दूसरा अध्याय

संजय ने कहा

ऐसे कृपायुत अश्रुपूरित दुःख से दहते हुए ।
कौन्तेय से इस भांति मधुसूदन वचन कहते हुए॥ 1॥

श्रीभगवान् ने कहा

अर्जुन! तुम्हें संकट- समय में क्यों हुआ अज्ञान है ।
यह आर्य- अनुचित और नाशक स्वर्ग, सुख, सम्मान है ॥ 2॥

अनुचित नपुंसकता तुम्हें हे पार्थ! इसमें मत पड़ो ।
यह क्षुद्र कायरता परंतप! छोड़ कर आगे बढ़ो ॥ 3॥

अर्जुन ने कहा

किस भाँति मधुसूदन! समर में भीष्म द्रोणाचार्य पर ।
मैं बाण अरिसूदन चलाऊँ वे हमारे पूज्यवर ॥ 4॥

भगवन्! महात्मा गुरुजनों का मारना न यथेष्ट है ।
इससे जगत् में मांग भिक्षा पेट- पालन श्रेष्ठ है ॥
इन गुरुजनों को मार कर, जो अर्थलोलुप हैं बने ।
उनके रुधिर से ही सने, सुख- भोग होंगे भोगने ॥ 5॥

जीते उन्हें हम या हमें वे, यह न हमको ज्ञात है ।
यह भी नहीं हम जानते, हितकर हमें क्या बात है ॥
जीवित न रहना चाहते हम, मार कर रण में जिन्हें ।
धृतराष्ट्र- सुत कौरव वही, लड़ने खड़े हैं सामने ॥ 6॥

कायरपने से हो गया सब नष्ट सत्य- स्वभाव है ।
मोहित हुई मति ने भुलाया धर्म का भी भाव है ॥
आया शरण हूँ आपकी मैं शिष्य शिक्षा दीजिये ।
निश्चित कहो कल्याणकारी कर्म क्या मेरे लिये ॥ 7॥

धन- धान्य- शाली राज्य निष्कंटक मिले संसार में ।
स्वामित्व सारे देवताओं का मिले विस्तार में ॥
कोई कहीं साधन मुझे फिर भी नहीं दिखता अहो ।
जिससे कि इन्द्रिय- तापकारी शोक सारा दूर हो ॥ 8 ॥

संजय ने कहा

इस भाँति कहकर कृष्ण से, राजन! ' लडूंगा मैं नहीं' ।
ऐसे वचन कह गुडाकेश अवाच्य हो बैठे वहीं ॥ 9 ॥

उस पार्थ से, रण- भूमि में जो, दुःख से दहने लगे ।
हँसते हुए से हृषीकेश तुरन्त यों कहने लगे ॥ 10॥

श्रीभगवान् ने कहा

निःशोच्य का कर शोक कहता बात प्रज्ञावाद की ।
जीते मरे का शोक ज्ञानीजन नहीं करते कभी ॥ 11॥

मैं और तू राजा सभी देखो कभी क्या थे नहीं ।
यह भी असम्भव हम सभी अब फिर नहीं होंगे कहीं ॥ 12॥

ज्यों बालपन, यौवन जरा इस देह में आते सभी ।
त्यों जीव पाता देह और, न धीर मोहित हों कभी ॥ 13॥

शीतोष्ण या सुख- दुःख- प्रद कौन्तेय! इन्द्रिय- भोग हैं ।
आते व जाते हैं सहो सब नाशवत संयोग हैं ॥ 14॥

नर श्रेष्ठ! वह नर श्रेष्ठ है इनसे व्यथा जिसको नहीं ।
वह मोक्ष पाने योग्य है सुख दुख जिसे सम सब कहीं ॥ 15॥

जो है असत् रहता नहीं, सत् का न किन्तु अभाव है ।
लखि अन्त इनका ज्ञानियों ने यों किया ठहराव है ॥ 16॥

यह याद रख अविनाशि है जिसने किया जग व्याप है ।
अविनाशि का नाशक नहीं कोई कहीं पर्याप है ॥ 17॥

इस देह में आत्मा अचिन्त्य सदैव अविनाशी अमर ।
पर देह उसकी नष्ट होती अस्तु अर्जुन! युद्ध कर ॥ 18॥

है जीव मरने मारनेवाला यही जो मानते ।
यह मारता मरता नहीं दोनों न वे जन जानते ॥ 19॥

मरता न लेता जन्म, अब है, फिर यहीं होगा कहीं ।
शाश्वत, पुरातन, अज, अमर, तन वध किये मरता नहीं ॥ 20॥

अव्यय अजन्मा नित्य अविनाशी इसे जो जानता ।
कैसे किसी का वध कराता और करता है बता ॥ 21॥

जैसे पुराने त्याग कर नर वस्त्र नव बदलें सभी ।
यों जीर्ण तन को त्याग नूतन देह धरता जीव भी ॥ 22॥

आत्मा न कटता शस्त्र से है, आग से जलता नहीं ।
सूखे न आत्मा वायु से, जल से कभी गलता नहीं ॥ 23॥

छिदने न जलने और गलने सूखनेवाला कभी ।
यह नित्य निश्चल, थिर, सनातन और है सर्वत्र भी ॥ 24॥

इन्द्रिय पहुँच से है परे, मन- चिन्तना से दूर है ।
अविकार इसको जान, दुख में व्यर्थ रहना चूर है ॥ 25॥

यदि मानते हो नित्य मरता, जन्मता रहता यहीं ।
तो भी महाबाहो! उचित ऐसी कभी चिन्ता नहीं ॥ 26॥

जन्मे हुए मरते, मरे निश्चय जनम लेते कहीं ।
ऐसी अटल जो बात है उसकी उचित चिन्ता नहीं ॥ 27 ॥

अव्यक्त प्राणी आदि में हैं मध्य में दिखते सभी ।
फिर अन्त में अव्यक्त, क्या इसकी उचित चिन्ता कभी ॥ 28॥

कुछ देखते आश्चर्य से, आश्चर्यवत कहते कहीं ।
कोई सुने आश्चर्यवत, पहिचानता फिर भी नहीं ॥ 29 ॥

सारे शरीरों में अबध आत्मा न बध होता किये ।
फिर प्राणियों का शोक यों तुमको न करना चाहिये ॥ 30॥

फिर देखकर निज धर्म, हिम्मत हारना अपकर्म है ।
इस धर्म- रण से बढ़ न क्षत्रिय का कहीं कुछ धर्म है ॥ 31॥

रण स्वर्गरूपी द्वार देखो खुल रहा है आप से ।
यह प्राप्त होता क्षत्रियों को युद्ध भाग्य- प्रताप से ॥ 32॥

तुम धर्म के अनुकूल रण से जो हटे पीछे कभी ।
निज धर्म खो अपकीर्ति लोगे और लोगे पाप भी ॥ 33॥

अपकीर्ति गायेंगे सभी फिर इस अमिट अपमान से ।
अपकीर्ति, सम्मानित पुरुष को अधिक प्राण- पयान से ॥ 34॥

' रण छोड़कर डर से भगा अर्जुन' कहेंगे सब यही ।
सम्मान करते वीरवर जो, तुच्छ जानेंगे वही ॥ 35॥

कहने न कहने की खरी खोटी कहेंगे रिपु सभी ।
सामर्थ्य- निन्दा से घना दुख और क्या होगा कभी ॥ 36 ॥

जीते रहे तो राज्य लोगे, मर गये तो स्वर्ग में ।
इस भाँति निश्चय युद्ध का करके उठो अरिवर्ग में ॥ 37 ॥

जय- हार, लाभालाभ, सुख- दुख सम समझकर सब कहीं ।
फिर युद्ध कर तुझको धनुर्धर ! पाप यों होगा नहीं ॥ 38॥

है सांख्य का यह ज्ञान अब सुन योग का शुभ ज्ञान भी ।
हो युक्त जिससे कर्म- बन्धन पार्थ छुटेंगे सभी ॥ 39॥

आरम्भ इसमें है अमिट यह विघ्न बाधा से परे ।
इस धर्म का पालन तनिक भी सर्व संकट को हरे ॥ 40॥

इस मार्ग में नित निश्चयात्मक- बुद्धि अर्जुन एक है ।
बहु बुद्धियाँ बहु भेद- युत उनकी जिन्हें अविवेक है ॥ 41॥

जो वेदवादी, कामनाप्रिय, स्वर्गइच्छुक, मूढ़ हैं ।
'अतिरिक्त इसके कुछ नहीं' बातें बढ़ाकर यों कहें ॥ 42 ॥

नाना क्रिया विस्तारयुत, सुख- भोग के हित सर्वदा ।
जिस जन्मरूपी कर्म- फल- प्रद बात को कहते सदा ॥ 43 ॥

उस बात से मोहित हुए जो भोग- वैभव- रत सभी ।
व्यवसाय बुद्धि न पार्थ ! उनकी हो समाधिस्थित कभी ॥ 44 ॥

हैं वेद त्रिगुणों के विषय, तुम गुणातीत महान हो !
तज योग क्षेम व द्वन्द्व नित सत्त्वस्थ आत्मावान् हो ॥ 45 ॥

सब ओर करके प्राप्त जल, जितना प्रयोजन कूप का ।
उतना प्रयोजन वेद से, विद्वान ब्राह्मण का सदा ॥ 46 ॥

अधिकार केवल कर्म करने का, नहीं फल में कभी ।
होना न तू फल- हेतु भी, मत छोड़ देना कर्म भी ॥ 47 ॥

आसक्ति सब तज सिद्धि और असिद्धि मान समान ही ।
योगस्थ होकर कर्म कर, है योग समता- ज्ञान ही ॥ 48 ॥

इस बुद्धियोग महान से सब कर्म अतिशय हीन हैं ।
इस बुद्धि की अर्जुन! शरण लो चाहते फल दीन हैं ॥ 49 ॥

जो बुद्धि- युत है पाप- पुण्यों में न पड़ता है कभी ।
बन योग- युत, है योग ही यह कर्म में कौशल सभी ॥ 50 ॥

नित बुद्धि- युत हो कर्म के फल त्यागते मतिमान हैं ।
वे जन्म- बन्धन तोड़ पद पाते सदैव महान हैं ॥ 51 ॥

इस मोह के गंदले सलिल से पार मति होगी जभी ।
वैराग्य होगा सब विषय में जो सुना सुनना अभी ॥ 52 ॥

श्रुति- भ्रान्त बुद्धि समाधि में निश्चल अचल होगी जभी ।
हे पार्थ! योग समत्व होगा प्राप्त यह तुझको तभी ॥ 53 ॥

अर्जुन ने कहा

केशव! किसे दृढ़- प्रज्ञजन अथवा समाधिस्थित कहें ।
थिर- बुद्धि कैसे बोलते, बैठें, चलें, कैसे रहें ॥ 54 ॥

श्रीभगवान् ने कहा

हे पार्थ! मन की कामना जब छोड़ता है जन सभी ।
हो आप आपे में मगन दृढ़- प्रज्ञ होता है तभी ॥ 55 ॥

सुख में न चाह, न खेद जो दुख में कभी अनुभव करे ।
थिर- बुद्धि वह मुनि, राग एवं क्रोध भय से जो परे ॥ 56 ॥

शुभ या अशुभ जो भी मिले उसमें न हर्ष न द्वेष ही ।
निःस्नेह जो सर्वत्र है, थिर- बुद्धि होता है वही ॥ 57 ॥

हे पार्थ! ज्यों कछुआ समेते अङ्ग चारों छोर से ।
थिर- बुद्धि जब यों इन्द्रियाँ सिमटें विषय की ओर से ॥ 58 ॥

होते विषय सब दूर हैं आहार जब जन त्यागता ।
रस किन्तु रहता, ब्रह्म को कर प्राप्त वह भी भागता ॥ 59 ॥

कौन्तेय! करते यत्न इन्द्रिय- दमन हित विद्वान् हैं ।
मन किन्तु बल से खैंच लेती इन्द्रियाँ बलवान हैं ॥ 60 ॥

उन इन्द्रियों को रोक, बैठे योगयुत मत्पर हुआ ।
आधीन जिसके इन्द्रियाँ, दृढ़प्रज्ञ वह नित नर हुआ ॥ 61 ॥

चिन्तन विषय का, सङ्ग विषयों में बढ़ाता है तभी ।
फिर संग से हो कामना, हो कामना से क्रोध भी ॥ 62 ॥

फिर क्रोध से है मोह, सुधि को मोह करता भ्रष्ट है ।
यह सुधि गए फिर बुद्धि विनशे, बुद्धि- विनशे नष्ट है ॥ 63॥

पर राग- द्वेष- विहीन सारी इन्द्रियाँ आधीन कर ।
फिर भोग करके भी विषय, रहता सदैव प्रसन्न नर ॥ 64 ॥

पाकर प्रसाद पवित्र जन के, दुःख कट जाते सभी ।
जब चित्त नित्य प्रसन्न रहता, बुद्धि दृढ़ होती तभी ॥ 65 ॥

रहकर अयुक्त न बुद्धि उत्तम भावना होती कहीं ।
बिन भावना नहिं शांति और अशांति में सुख है नहीं ॥ 66 ॥

सब विषय विचरित इन्द्रियों में, साथ मन जिसके रहे ।
वह बुद्धि हर लेती, पवन से नाव ज्यों जल में बहे ॥ 67 ॥

चहुँ ओर से इन्द्रिय- विषय से, इन्द्रियाँ जब दूर ही ।
रहती हटीं जिसकी सदा, दृढ़- प्रज्ञ होता है वही ॥ 68 ॥

सब की निशा तब जागता योगी पुरुष हे तात! है ।
जिसमें सभी जन जागते, ज्ञानी पुरुष की रात है ॥ 69 ॥

सब ओर से परिपूर्ण जलनिधि में सलिल जैसे सदा ।
आकर समाता, किन्तु अविचल सिन्धु रहता सर्वदा ॥
इस भाँति ही जिसमें विषय जाकर समा जाते सभी ।
वह शांति पाता है, न पाता काम- कामी जन कभी ॥ 70 ॥

सब त्याग इच्छा कामना, जो जन विचरता नित्य ही ।
मद और ममता हीन होकर, शांति पाता है वही ॥ 71 ॥

यह पार्थ! ब्राह्मीस्थिति इसे पा नर न मोहित हो कभी ।
निर्वाण पद हो प्राप्त इसमें ठैर अन्तिम काल भी ॥ 72 ॥
दूसरा अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

तीसरा अध्याय

अर्जुन ने कहा - -

यदि हे जनार्दन! कर्म से तुम बुद्धि कहते श्रेष्ठ हो ।
तो फिर भयंकर कर्म में मुझको लगाते क्यों कहो ॥ 1॥

उलझन भरे कह वाक्य, भ्रम- सा डालते भगवान् हो ।
वह बात निश्चय कर कहो जिससे मुझे कल्याण हो ॥ 2॥

श्रीभगवान् ने कहा - -

पहले कही दो भाँति निष्ठा, ज्ञानियों की ज्ञान से ।
फिर योगियों की योग- निष्ठा, कर्मयोग विधान से ॥ 3॥

आरम्भ बिन ही कर्म के निष्कर्म हो जाते नहीं ।
सब कर्म ही के त्याग से भी सिद्धि जन पाते नहीं ॥ 4॥

बिन कर्म रह पाता नहीं कोई पुरुष पल भर कभी ।
हो प्रकृति- गुण आधीन करने कर्म पड़ते हैं सभी ॥ 5॥

कर्मेंद्रियों को रोक जो मन से विषय- चिन्तन करे ।
वह मूढ़ पाखण्डी कहाता दम्भ निज मन में भरे ॥ 6॥

जो रोक मन से इन्द्रियाँ आसक्ति बिन हो नित्य ही ।

कर्मेन्द्रियों से कर्म करता श्रेष्ठ जन अर्जुन! वही ॥ 7॥

बिन कर्म से नित श्रेष्ठ नियमित- कर्म करना धर्म है ।

बिन कर्म के तन भी न सधता कर नियत जो कर्म है ॥ 8॥

तज यज्ञ के शुभ कर्म, सारे कर्म बन्धन पार्थ! हैं ।

अतएव तज आसक्ति सब कर कर्म जो यज्ञार्थ हैं ॥ 9॥

विधि ने प्रजा के साथ पहले यज्ञ को रच के कहा ।

पूरे करे यह सब मनोरथ, वृद्धि हो इससे महा ॥ 10॥

मख से करो तुम तुष्ट सुरगण, वे करें तुमको सदा ।

ऐसे परस्पर तुष्ट हो, कल्याण पाओ सर्वदा ॥ 11॥

मख तृप्त हो सुर कामना पूरी करेंगे नित्य ही ।

उनका दिया उनको न दे, जो भोगता तस्कर वही ॥ 12॥

जो यज्ञ में दे भाग खाते पाप से छुट कर तरें ।

तन हेतु जो पापी पकाते पाप वे भक्षण करें ॥ 13॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से हैं, अन्न होता वृष्टि से ।
यह वृष्टि होती यज्ञ से, जो कर्म की शुभ सृष्टि से ॥ 14॥

फिर कर्म होते ब्रह्म से हैं, ब्रह्म अक्षर से कहा ।
यों यज्ञ में सर्वत्र- व्यापी ब्रह्म नित ही रम रहा ॥ 15॥

चलता न जो इस भाँति चलते चक्र के अनुसार है ।
पापायु इन्द्रियलम्पटी वह व्यर्थ ही भू- भार है ॥ 16॥

जो आत्मरत रहता निरन्तर, आत्म- तृप्त विशेष है ।
संतुष्ट आत्मा में, उसे करना नहीं कुछ शेष है ॥ 17॥

उसको न कोई लाभ है करने न करने से कहीं ।
हे पार्थ! प्राणीमात्र से उसको प्रयोजन है नहीं ॥ 18॥

अतएव तज आसक्ति, कर कर्तव्य कर्म सदैव ही ।
यों कर्म जो करता परम पद प्राप्त करता है वही ॥ 19॥

जनकादि ने भी सिद्धि पाई कर्म ऐसे ही किये ।
फिर लोकसंग्रह देख कर भी कर्म करना चाहिये ॥ 20॥

जो कार्य करता श्रेष्ठ जन करते वही हैं और भी ।
उसके प्रमाणित- पंथ पर ही पैर धरते हैं सभी ॥ 21॥

अप्राप्त मुझको कुछ नहीं, जो प्राप्त करना हो अभी ।
त्रैलोक्य में करना न कुछ, पर कर्म करता मैं सभी ॥ 22॥

आलस्य तजके पार्थ! मैं यदि कर्म में वरतूँ नहीं ।
सब भाँति मेरा अनुकरण ही नर करेंगे सब कहीं ॥ 23॥

यदि छोड़ दूँ मैं कर्म करना, लोक सारा भ्रष्ट हो ।
मैं सर्व संकर का बनूँ कर्ता, सभी जग नष्ट हो ॥ 24॥

ज्यों मूढ़ मानव कर्म करते नित्य कर्मासक्त हो ।
यों लोकसंग्रह- हेतु करता कर्म, विज्ञ विरक्त हो ॥ 25॥

ज्ञानी न डाले भेद कर्मासक्त की मति में कभी ।
वह योग- युत हो कर्म कर, उनसे कराये फिर सभी ॥ 26॥

होते प्रकृति के ही गुणों से सर्व कर्म विधान से ।
मैं कर्‌म करता, मूढ़- मानव मानता अभिमान से ॥ 27॥

गुण और कर्म विभाग के सब तत्त्व जो जन जानता ।
होता न वह आसक्त गुण का खेल गुण में मानता ॥ 28॥

गुण कर्म में आसक्त होते प्रकृतिगुण मोहित सभी ।
उन मंद मूढ़ों को करे विचलित न ज्ञानी जन कभी ॥ 29॥

अध्यात्म- मति से कर्म अर्पण कर मुझे आगे बढ़ो ।
फल- आश ममता छोड़कर निश्चिन्त होकर फिर लड़ो ॥ 30॥

जो दोष- बुद्धि विहीन मानव नित्य श्रद्धायुक्त हैं ।
मेरे सुमत अनुसार करके कर्म वे नर मुक्त हैं ॥ 31॥

जो दोष- दर्शी मूढ़मति मत मानते मेरा नहीं ।
वे सर्वज्ञान- विमूढ़ नर नित नष्ट जानों सब कहीं ॥ 32॥

वर्ते सदा अपनी प्रकृति अनुसार ज्ञान- निधान भी ।
निग्रह करेगा क्या, प्रकृति अनुसार हैं प्राणी सभी ॥ 33॥

अपने विषय में इन्द्रियों को राग भी है द्वेष भी ।
ये शत्रु हैं, वश में न इनके चाहिये आना कभी ॥ 34॥

ऊँचे सुलभ पर- धर्म से निज विगुण धर्म महान् है ।
परधर्म भयप्रद, मृत्यु भी निज धर्म में कल्याण है ॥ 35॥

अर्जुन ने कहा - -

भगवन्! कहो करना नहीं नर चाहता जब आप है ।
फिर कौन बल से खींच कर उससे कराता पाप है ॥ 36॥

श्रीभगवान् ने कहा - -

पैदा रजोगुण से हुआ यह काम ही यह क्रोध ही ।
पेटू महापापी कराता पाप है वैरी यही ॥ 37॥

ज्यों गर्भ झिल्ली से, धुएँ से आग, शीशा धूल से ।
यों काम से रहता ढका है, ज्ञान भी (आमूल) से ॥ 38॥

यह काम शत्रु महान्, नित्य अतृप्त अग्नि समान है ।
इससे ढका कौन्तेय! सारे ज्ञानियों का ज्ञान है ॥ 39॥

मन, इन्द्रियों में, बुद्धि में यह वास वैरी नित करे ।
इनके सहारे ज्ञान ढक, जीवात्म को मोहित करे ॥ 40॥

इन्द्रिय- दमन करके करो फिर नाश शत्रु महान् का ।
पापी सदा यह नाशकारी ज्ञान का विज्ञान का ॥ 41॥

हैं श्रेष्ठ इन्द्रिय, इन्द्रियों से पार्थ! मन मानो परे ।
मन से परे फिर बुद्धि, आत्मा बुद्धि से जानो परे ॥ 42॥

यों बुद्धि से आत्मा परे है जान इसके ज्ञान को ।
मन वश्य करके जीत दुर्जय काम शत्रु महान् को ॥ 43॥

तीसरा अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

चौथा अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -

मैंने कहा था सूर्य के प्रति योग यह अव्यय महा ।
फिर सूर्‌य ने मनु से कहा इक्ष्वाकु से मनु ने कहा ॥ 1॥

यों राजऋषि परिचित हुए सुपरम्परागत योग से ।
इस लोक में वह मिट गया बहु काल के संयोग से ॥ 2॥

मैंने समझकर यह पुरातन योग- श्रेष्ठ रहस्य है ।
तुझसे कहा सब क्योंकि तू मम भक्त और वयस्य है ॥ 3॥

अर्जुन ने कहा - -

पैदा हुए थे सूर्य पहले आप जन्मे हैं अभी ।
मैं मानलूं कैसे कहा यह आपने उनसे कभी ॥ 4॥

श्रीभगवान् ने कहा - -

मैं और तू अर्जुन! अनेकों बार जन्मे हैं कहीं ।
सब जानता हूँ मैं परंतप! ज्ञान तुझको है नहीं ॥ 5॥

यद्यपि अजन्मा, प्राणियों का ईश मैं अव्यय परम् ।
पर निज प्रकृति आधीन कर, लूं जन्म माया से स्वयम् ॥ 6॥

हे पार्थ! जब जब धर्म घटता और बढ़ता पाप ही ।
तब तब प्रकट मैं रूप अपना नित्य करता आप ही ॥ 7॥

सज्जन जनों का त्राण करने दुष्ट- जन- संहार- हित ।
युग- युग प्रकट होता स्वयं मैं, धर्म के उद्धार हित ॥ 8॥

जो दिव्य मेरा जन्म कर्म रहस्य से सब जान ले ।
मुझमें मिले तन त्याग अर्जुन! फिर न वह जन जन्म ले ॥ 9॥

मन्मय ममाश्रित जन हुए भय क्रोध राग- विहीन हैं ।
तप यज्ञ से हो शुद्ध बहु मुझमें हुए लवलीन हैं ॥ 10॥

जिस भाँति जो भजते मुझे उस भाँति दूं फल- भोग भी ।
सब ओर से ही वर्तते मम मार्ग में मानव सभी ॥ 11॥

इस लोक में करते फलेच्छुक देवता- आराधना ।
तत्काल होती पूर्ण उनकी कर्म फल की साधना ॥ 12॥

मैंने बनाये कर्म गुण के भेद से चहुँ वर्ण भी ।
कर्ता उन्हों का जान तू, अव्यय अकर्ता मैं सभी ॥ 13॥

फल की न मुझको चाह बँधता मैं न कर्मों से कहीं ।
यों जानता है जो मुझे वह कर्म से बँधता नहीं ॥ 14॥

यह जान कर्म मुमुक्षपुरुषों ने सदा पहले किये ।
प्राचीन पूर्वज- कृत करो अब कर्म तुम इस ही लिये ॥ 15॥

क्या कर्म और अकर्म है भूले यही विद्वान् भी ।
जो जान पापों से छुटो, वह कर्म कहता हूँ सभी ॥ 16॥

हे पार्थ! कर्म अकर्म और विकर्म का क्या ज्ञान है ।
यह जान लो सब, कर्म की गति गहन और महान् है ॥ 17॥

जो कर्म में देखे अकर्म, अकर्म में भी कर्म ही ।
है योग- युत ज्ञानी वही, सब कर्म करता है वही ॥ 18॥

ज्ञानी उसे पंडित कहें उद्योग जिसके हों सभी ।
फल- वासना बिन, भस्म हों ज्ञानाग्नि में सब कर्म भी ॥ 19॥

जो है निराश्रय तृप्त नित, फल कामनाएँ तज सभी ।
वह कर्म सब करता हुआ, कुछ भी नहीं करता कभी ॥ 20॥

जो कामना तज, सर्वसंग्रह त्याग, मन वश में करे ।
केवल करे जो कर्म दैहिक, पाप से है वह परे ॥ 21॥

बिन द्वेष द्वन्द्व असिद्धि सिद्धि समान हैं जिसको सभी ।
जो है यदृच्छा- लाभ- तृप्त न बद्ध वह कर कर्म भी ॥ 22॥

चित ज्ञान में जिनका सदा जो मुक्त संग- विहीन हों ।
यज्ञार्थ करते कर्म उनके सर्व कर्म विलीन हों ॥ 23॥

मख ब्रह्म से, ब्रह्माग्नि से, हवि ब्रह्म, अर्पण ब्रह्म है ।
सब कर्म जिसको ब्रह्म, करता प्राप्त वह जन ब्रह्म है ॥ 24॥

योगी पुरुष कुछ दैव- यज्ञ उपासना में मन धरें ।
ब्रह्माग्नि में कुछ यज्ञ द्वारा यज्ञ ज्ञानी जन करें ॥ 25॥

कुछ होंमते श्रोत्रादि इन्द्रिय संयमों की आग में ।
इन्द्रिय- अनल में कुछ विषय शब्दादि आहुति दे रमें ॥ 26॥

कर आत्म- संयमरूप योगानल प्रदीप्त सुज्ञान से ।
कुछ प्राण एवं इन्द्रियों के कर्म होमें ध्यान से ॥ 27॥

कुछ संयमी जन यज्ञ करते योग, तप से, दान से ।
स्वाध्याय से करते यती, कुछ यज्ञ करते ज्ञान से ॥ 28॥

कुछ प्राण में होमें अपान व प्राणवायु अपान में ।
कुछ रोक प्राण अपान प्राणायाम ही के ध्यान में ॥ 29॥

कुछ मिताहारी हवन करते, प्राण ही में प्राण हैं ।
क्षय पाप यज्ञों से किये, ये यज्ञ- विज्ञ महान् हैं ॥ 30॥

जो यज्ञ का अवशेष खाते, ब्रह्म को पाते सभी ।
परलोक तो क्या, यज्ञ- त्यागी को नहीं यह लोक भी ॥ 31॥

बहु भाँति से यों ब्रह्म- मुख में यज्ञ का विस्तार है ।
होते सभी हैं कर्म से, यह जान कर निस्तार है ॥ 32॥

धन- यज्ञ से समझो सदा ही ज्ञान- यज्ञ प्रधान है ।
सब कर्म का नित ज्ञान में ही पार्थ! पर्यवसान है ॥ 33॥

सेवा विनय प्रणिपात पूर्वक प्रश्न पूछो ध्यान से ।
उपदेश देंगे ज्ञान का तब तत्त्व- दर्शी ज्ञान से ॥ 34॥

होगा नहीं फिर मोह ऐसे श्रेष्ठ शुद्ध विवेक से ।
तब ही दिखेंगे जीव मुझमें और तुझमें एक से ॥ 35॥

तेरा कहीं यदि पापियों से घोर पापाचार हो ।
इस ज्ञान नय्या से सहज में पाप सागर पार हो ॥ 36॥

ज्यों पार्थ! पावक प्रज्ज्वलित ईंधन जलाती है सदा ।
ज्ञानाग्नि सारे कर्म करती भस्म यों ही सर्वदा ॥ 37॥

इस लोक में साधन पवित्र न और ज्ञान समान है ।
योगी पुरुष पाकर समय पाता स्वयं ही ज्ञान है ॥ 38॥

जो कर्म- तत्पर है जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् है ।
वह प्राप्त करके ज्ञान पाता शीघ्र शान्ति महान् है ॥ 39॥

जिसमें न श्रद्धा ज्ञान, संशयवान डूबे सब कहीं ।
उसके लिये सुख, लोक या परलोक कुछ भी है नहीं ॥ 40॥

तज योग- बल से कर्म, काटे ज्ञान से संशय सभी ।
उस आत्म- ज्ञानी को न बांधे कर्म बन्धन में कभी ॥ 41॥

अज्ञान से जो भ्रम हृदय में, काट ज्ञान कृपान से ।
अर्जुन खड़ा हो युद्ध कर, हो योग आश्रित ज्ञान से ॥ 42॥

चौथा अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

पाँचवा अध्याय

अर्जुन ने कहा - -

कहते कभी हो योग को उत्तम कभी संन्यास को ।
के कृष्ण! निश्चय कर कहो वह एक जिससे श्रेय हो ॥ 1॥

श्रीभगवान् ने कहा - -

संन्यास एवं योग दोनों मोक्षकारी हैं महा ।
संन्यास से पर कर्मयोग महान् हितकारी कहा ॥ 2॥

है नित्य संयासी न जिसमें द्वेष या इच्छा रही ।
तज द्वन्द्व सुख से सर्व बन्धन- मुक्त होता है वही ॥ 3॥

है ' सांख्य' ' योग' विभिन्न कहते मूढ़, नहिं पण्डित कहें ।
पाते उभय फल एक के जो पूर्ण साधन में रहें ॥ 4॥

पाते सुगति जो सांख्य- ज्ञानी कर्म- योगी भी वही ।
जो सांख्य, योग समान जाने तत्त्व पहिचाने सही ॥ 5॥

निष्काम- कर्म- विहीन हो, पान कठिन संन्यास है ।
मुनि कर्म- योगी शीघ्र करता ब्रह्म में ही वास है ॥ 6॥

जो योग युत है, शुद्ध मन, निज आत्मयुत देखे सभी ।
वह आत्म- इन्द्रिय जीत जन, नहिं लिप्त करके कर्म भी ॥ 7॥

तत्त्वज्ञ समझे युक्त मैं करता न कुछ खाता हुआ ।
पाता निरखता सूँघता सुनता हुआ जाता हुआ ॥ 8॥

छूते व सोते साँस लेते छोड़ते या बोलते ।
वर्ते विषय में इन्द्रियाँ दृग बन्द करते खोलते ॥ 9॥

आसक्ति तज जो ब्रह्म- अर्पण कर्म करता आप है ।
जैसे कमल को जल नहीं लगता उसे यों पाप है ॥ 10॥

मन, बुद्धि, तन से और केवल इन्द्रियों से भी कभी ।
तज संग, योगी कर्म करते आत्म- शोधन- हित सभी ॥ 11॥

फल से सदैव विरक्त हो चिर- शान्ति पाता युक्त है ।
फल- कामना में सक्त हो बँधता सदैव अयुक्त है ॥ 12॥

सब कर्म तज मन से जितेन्द्रिय जीवधारी मोद से ।
बिन कुछ कराये या किये नव- द्वार- पुर में नित बसे ॥ 13॥

कतृत्व कर्म न, कर्म- फल- संयोग जगदीश्वर कभी ।
रचता नहीं अर्जुन! सदैव स्वभाव करता है सभी ॥ 14॥

ईश्वर न लेता है किसी का पुण्य अथवा पाप ही ।
है ज्ञान माया से ढका यों जीव मोहित आप ही ॥ 15॥

पर दूर होता ज्ञान से जिनका हृदय- अज्ञान है ।
करता प्रकाशित ' तत्त्व' उनका ज्ञान सूर्य समान है ॥ 16॥

तन्निष्ठ तत्पर जो उसी में, बुद्धि मन धरते वहीं ।
वे ज्ञान से निष्पाप होकर जन्म फिर लेते नहीं ॥ 17॥

विद्याविनय- युत- द्विज, श्वपच, चाहे गऊ, गज, श्वान है ।
सबके विषय में ज्ञानियों की दृष्टि एक समान है ॥ 18॥

जो जन रखें मन साम्य में वे जीत लेते जग यहीं ।
पर ब्रह्म सम निर्दोष है, यों ब्रह्म में वे सब कहीं ॥ 19॥

प्रिय वस्तु पा न प्रसन्न, अप्रिय पा न जो सुख- हीन है ।
निर्मोह दृढ- मति ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में लवलीन है ॥ 20॥

नहिं भोग- विषयासक्त जो जन आत्म- सुख पाता वही ।
वह ब्रह्मयुत, अनुभव करे अक्षय महासुखनित्य ही ॥ 21॥

जो बाहरी संयोग से हैं भोग दुखकारण सभी ।
है आदि उनका अन्त, उनमें विज्ञ नहिं रमते कभी ॥ 22॥

जो काम- क्रोधावेग सहता है मरण पर्यन्त ही ।
संसार में योगी वही नर सुख सदा पाता वही ॥ 23॥

जो आत्मरत अन्तः सुखी है ज्योति जिसमें व्याप्त है ।
वह युक्त ब्रह्म- स्वरूप हो निर्वाण करता प्राप्त है ॥ 24॥

निष्पाप जो कर आत्म- संयम द्वन्द्व- बुद्धि- विहीन हैं ।
रत जीवहित में, ब्रह्म में होते वही जन लीन हैं ॥ 25॥

यति काम क्रोध विहीन जिनमें आत्म- ज्ञान प्रधान है ।
जीता जिन्होंने मन उन्हें सब ओर ही निर्वाण है ॥ 26॥

धर दृष्टि भृकुटी मध्य में तज बाह्य विषयों को सभी ।
नित नासिकाचारी किये सम प्राण और अपान भी ॥ 27॥

वश में करे मन बुद्धि इन्द्रिय मोक्ष में जो युक्त है ।
भय क्रोध इच्छा त्याग कर वह मुनि सदा ही मुक्त है ॥ 28॥

जाने मुझे तप यज्ञ भोक्ता लोक स्वामी नित्य ही ।
सब प्राणियों का मित्र जाने शान्ति पाता है वही ॥ 29॥

पांचवा अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

छठा अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -

फल- आश तज, कर्तव्य कर्म सदैव जो करता, वही ।
योगी व संन्यासी, न जो बिन अग्नि या बिन कर्म ही ॥ 1॥

वह योग ही समझो जिसे संन्यास कहते हैं सभी ।
संकल्प के संन्यास बिन बनता नहीं योगी कभी ॥ 2॥

जो योग- साधन चाहता मुनि, हेतु उसका कर्म है ।
हो योग में आरूढ़, उसका हेतु उपशम धर्म है ॥ 3॥

जब दूर विषयों से, न हो आसक्त कर्मों में कभी ।
संकल्प त्यागे सर्व, योगारूढ़ कहलाता तभी ॥ 4॥

उद्धार अपना आप कर, निज को न गिरने दे कभी ।
वह आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी ॥ 5॥

जो जीत लेता आपको वह बन्धु अपना आप ही ।
जाना न अपने को स्वयं रिपु सी करे रिपुता वही ॥ 6॥

अति शान्त जन, मनजीत का आत्मा सदैव समान है ।
सुख- दुःख, शीतल- ऊष्ण अथवा मान या अपमान है ॥ 7॥

कूटस्थ इन्द्रियजीत जिसमें ज्ञान है विज्ञान है ।
वह युक्त जिसको स्वर्ण, पत्थर, धूल एक समान है ॥ 8॥

वैरी, सुहृद, मध्यस्थ, साधु, असाधु, जिनसे द्वेष है ।
बान्धव, उदासी, मित्र में सम बुद्धि पुरुष विशेष है ॥ 9॥

चित- आत्म- संयम नित्य एकाकी करे एकान्त में ।
तज आश- संग्रह नित निरन्तर योग में योगी रमें ॥ 10॥

आसन धरे शुचि- भूमि पर थिर, ऊँच नीच न ठौर हो ।
कुश पर बिछा मृगछाल, उस पर वस्त्र पावन और हो ॥ 11॥

एकाग्र कर मन, रोक इन्द्रिय चित्त के व्यापार को ।
फिर आत्म- शोधन हेतु बैठे नित्य योगाचार को ॥ 12॥

होकर अचल, दृढ़, शीश ग्रीवा और काया सम करे ।
दिशि अन्य अवलोके नहीं नासाग्र पर ही दृग धरे ॥ 13॥

बन ब्रह्मचारी शान्त, मन- संयम करे भय- मुक्त हो ।
हो मत्परायण चित्त मुझमें ही लगाकर युक्त हो ॥ 14॥

यों जो नियत- चित युक्त योगाभ्यास में रत नित्य ही ।
मुझमें टिकी निर्वाण परमा शांति पाता है वही ॥ 15॥

यह योग अति खाकर न सधता है न अति उपवास से ।
सधता न अतिशय नींद अथवा जागरण के त्रास से ॥ 16॥

जब युक्त सोना जागना आहार और विहार हों ।
हो दुःखहारी योग जब परिमित सभी व्यवहार हों ॥ 17॥

संयत हुआ चित आत्म ही में नित्य रम रहता जभी ।
रहती न कोई कामना नर युक्त कहलाता तभी ॥ 18॥

अविचल रहे बिन वायु दीपक- ज्योति जैसे नित्य ही ।
है चित्तसंयत योग- साधक युक्त की उपमा वही ॥ 19॥

रमता जहाँ चित योग- सेवन से निरुद्ध सदैव है ।
जब देख अपने आपको संतुष्ट आत्मा में रहे ॥ 20॥

इन्द्रिय- अगोचर बुद्धि- गम्य अनन्त सुख अनुभव करे ।
जिसमें रमा योगी न डिगता तत्त्व से तिल भर परे ॥ 21॥

पाकर जिसे जग में न उत्तम लाभ दिखता है कहीं ।
जिसमें जमे जन को कठिन दुख भी डिगा पाता नहीं ॥ 22॥

कहते उसे ही योग जिसमें सर्वदुःख वियोग है ।
दृढ़- चित्त होकर साधने के योग्य ही यह योग है ॥ 23॥

संकल्प से उत्पन्न सारी कामनाएँ छोड़के ।
मनसे सदा सब ओर से ही इन्द्रियों को मोड़के ॥ 24॥

हो शान्त क्रमशः धीर मति से आत्म- सुस्थिर मन करे ।
कोई विषय का फिर न किंचित् चित्त में चिन्तन करे ॥ 25॥

यह मन चपल अस्थिर जहाँ से भाग कर जाये परे ।
रोके वहीं से और फिर आधीन आत्मा के करे ॥ 26॥

जो ब्रह्मभूत, प्रशान्त- मन, जन रज- रहित निष्पाप है ।
उस कर्मयोगी को परम सुख प्राप्त होता आप है ॥ 27॥

निष्पाप हो इस भाँति जो करता निरन्तर योग है ।
वह ब्रह्म- प्राप्ति- स्वरूप- सुख करता सदा उपभोग है ॥ 28॥

युक्तात्म समदर्शी पुरुष सर्वत्र ही देखे सदा ।
मैं प्राणियों में और प्राणीमात्र मुझमें सर्वदा ॥ 29॥

जो देखता मुझमें सभी को और मुझको सब कहीं ।
मैं दूर उस नर से नहीं वह दूर मुझसे है नहीं ॥ 30॥

एकत्व- मति से जान जीवों में मुझे नर नित्य ही ।
भजता रहे जो, सर्वथा कर कर्म मुझमें है वही ॥ 31॥

सुख- दुःख अपना और औरों का समस्त समान है ।
जो जानता अर्जुन! वही योगी सदैव प्रधान है ॥ 32॥

अर्जुन ने कहा - -
जो साम्य- मति से प्राप्य तुमने योग मधुसूदन! कहा ।
मन की चपलता से महा अस्थिर मुझे वह दिख रहा ॥ 33॥

हे कृष्ण! मन चञ्चल हठी बलवान् है दृढ़ है घना ।
मन साधना दुष्कर दिखे जैसे हवा का बाँधना ॥ 34॥

श्री भगवान् ने कहा - -
चंचल असंशय मन महाबाहो! कठिन साधन घना ।
अभ्यास और विराग से पर पार्थ! होती साधना ॥ 35॥

जीता न जो मन, योग है दुष्प्राप्य मत मेरा यही ।
मन जीत कर जो यत्न करता प्राप्त करता है वही ॥ 36॥

अर्जुन ने कहा - -

जो योग- विचलित यत्नहीन परन्तु श्रद्धावान् हो ।

वह योग- सिद्धि न प्राप्त कर, गति कौन सी पाता कहो? ॥ 37॥

मोहित निराश्रय, ब्रह्म- पथ में हो उभय पथ- भ्रष्ट क्या ।

वह बादलों- सा छिन्न हो, होता सदैव विनष्ट क्या ? ॥ 38॥

हे कृष्ण! करुणा कर सकल सन्देह मेरा मेटिये ।

तज कर तुम्हें है कौन यह भ्रम दूर करने के लिये ? ॥ 39॥

श्रीभगवान् ने कहा - -

इस लोक में परलोक में वह नष्ट होता है नहीं ।

कल्याणकारी- कर्म करने में नहीं दुर्गति कहीं ॥ 40॥

शुभ लोक पाकर पुण्यवानों का, रहे वर्षों वहीं ।

फिर योग- विचलित जन्मता श्रीमान् शुचि के घर कहीं ॥ 41॥

या जन्म लेता श्रेष्ठ ज्ञानी योगियों के वंश में ।

दुर्लभ सदा संसार में है जन्म ऐसे अंश में ॥ 42॥

पाता वहाँ फिर पूर्व- मति- संयोग वह नर- रत्न है ।

उस बुद्धि से फिर सिद्धि के करता सदैव प्रयत्न है ॥ 43॥

हे पार्थ! पूर्वाभ्यास से खिंचता उधर लाचार हो ।
हो योग- इच्छुक वेद- वर्णित कर्म- फल से पार हो ॥ 44॥

अति यत्न से वह योगसेवी सर्वपाप- विहीन हो ।
बहु जन्म पीछे सिद्ध होकर परम गति में लीन हो ॥ 45॥

सारे तपस्वी। ज्ञानियों से, कर्मनिष्ठों से सदा ।
है श्रेष्ठ योगी, पार्थ! हो इस हेतु योगी सर्वदा ॥ 46॥

सब योगियों में मानता मैं युक्ततम योगी वही ।
श्रद्धा- सहित मम ध्यान धर भजता मुझे जो नित्य ही ॥ 47॥

छठा अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

सातवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -

मुझमें लगा कर चित्त मेरे आसरे कर योग भी ।
जैसा असंशय पूर्ण जानेगा मुझे वह सुन सभी ॥ 1॥

विज्ञान- युत वह ज्ञान कहता हूँ सभी विस्तार में ।
जो जान कर कुछ जानना रहता नहीं संसार में ॥ 2॥

कोई सहस्रों मानवों में सिद्धि करना ठानता ।
उन यत्नशीलों में मुझे कोई यथावत् जानता ॥ 3॥

पृथ्वी, पवन, जल, तेज, नभ, मन, अहंकार व बुद्धि भी ।
इन आठ भागों में विभाजित है प्रकृति मेरी सभी ॥ 4॥

हे पार्थ! वह ' अपरा' प्रकृति का जान लो विस्तार है ।
फिर है ' परा' यह जीव जो संसार का आधार है ॥ 5॥

उत्पन्न दोनों से इन्हीं से जीव हैं जग के सभी ।
मैं मूल सब संसार का हूँ और मैं ही अन्त भी ॥ 6॥

मुझसे परे कुछ भी नहीं संसार का विस्तार है ।
जिस भांति माला में मणी, मुझमें गुथा संसार है ॥ 7॥

आकाश में ध्वनि, नीर में रस, वेद में ओंकार हूँ ।
पौरुष पुरुष में, चाँद सूरज में प्रभामय सार हूँ ॥ 8॥

शुभ गन्ध वसुधा में सदा मैं प्राणियों में प्राण हूँ ।
मैं अग्नि में हूँ तेज, तपियों में तपस्या ज्ञान हूँ ॥ 9॥

हे पार्थ! जीवों का सनातन बीज हूँ, आधार हूँ ।
तेजस्वियों में तेज, बुध में बुद्धि का भण्डार हूँ ॥ 10॥

हे पार्थ! मैं कामादि राग- विहीन बल बलवान् का ।
मैं काम भी हूँ धर्म के अविरुद्ध विद्यावान् का ॥ 11॥

सत और रज, तम भाव मुझसे ही हुए हैं ये सभी ।
मुझमें सभी ये किन्तु मैं उनमें नहीं रहता कभी ॥ 12॥

इन त्रिगुण भावों में सभी भूला हुआ संसार है ।
जाने न अव्यय- तत्त्व मेरा जो गुणों से पार है ॥ 13॥

यह त्रिगुणदैवी घोर माया अगम और अपार है ।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है ॥ 14॥

पापी, नराधम, ज्ञान माया ने हरा जिनका सभी ।
वे मूढ़ आसुर बुद्धि- वश मुझको नहीं भजते कभी ॥ 15॥

अर्जुन! मुझे भजता सुकृति- समुदाय चार प्रकार का ।
जिज्ञासु, ज्ञानीजन, दुखी- मन, अर्थ- प्रिय संसार का ॥ 16॥

नित- युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ, जो मुझमें अनन्यासक्त है ।
मैं क्योंकि ज्ञानी को परम प्रिय, प्रिय मुझे वह भक्त है ॥ 17॥

वे सब उदार, परन्तु मेरा प्राण ज्ञानी भक्त है ।
वह युक्त जन, सर्वोच्च- गति मुझमें सदा अनुरक्त है ॥ 18॥

जन्मान्तरों में जानकर, ' सब वासुदेव यथार्थ है' ।
ज्ञानी मुझे भजता, सुदुर्लभ वह महात्मा पार्थ है ॥ 19॥

निज प्रकृति- प्रेरित, कामना द्वारा हुए हत ज्ञान से ।
कर नियम भजते विविध विध नर अन्य देव विधान से ॥ 20॥

जो जो कि जिस जिस रूप की पूजा करे नर नित्य ही ।
उस भक्त की करता उसी में, मैं अचल श्रद्धा वही ॥ 21॥

उस देवता को पूजता फिर वह, वही श्रद्धा लिये ।
निज इष्ट- फल पाता सकल, निर्माण जो मैने किये ॥ 22॥

ये मन्दमति नर किन्तु पाते, अन्तवत फल सर्वदा ।
सुर- भक्त सुर में, भक्त मेरे, आ मिलें मुझमें सदा ॥ 23॥

अव्यक्त मुझको व्यक्त, मानव मूढ़ लेते मान हैं ।
अविनाशि अनुपम भाव मेरा वे न पाते जान हैं ॥ 24॥

निज योगमाया से ढका सबको न मैं, दिखता कहीं ।
अव्यय अजन्मा मैं, मुझे पर मूढ़ नर जानें नहीं ॥ 25॥

होंगे, हुए हैं, जीव जो मुझको सभी का ज्ञान है ।
इनको किसी को किन्तु कुछ मेरी नहीं पहिचान है ॥ 26॥

उत्पन्न इच्छा द्वेष से जो द्वन्द्व जग में व्याप्त हैं ।
उनसे परंतप ! सर्व प्राणी मोह करते प्राप्त हैं ॥ 27॥

पर पुण्यवान् मनुष्य जिनके छुट गये सब पाप हैं ।
दृढ़ द्वन्द्व- मोह- विहीन हो भजते मुझे वे आप हैं ॥ 28॥

करते ममाश्रित जो जरा- मृति- मोक्ष के हित साधना ।
वे जानते हैं ब्रह्म, सब अध्यात्म, कर्म महामना ॥ 29॥

अधि- भूत, दैव व यज्ञ- युत, जो विज्ञ मुझको जानते ॥
वे युक्त- चित मरते समय में भी मुझे पहिचानते ॥ 30॥
सातवां अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

आठवां अध्याय

अर्जुन ने कहा

हे कृष्ण! क्या वह ब्रह्म? क्या अध्यात्म है? क्या कर्म है?
अधिभूत कहते हैं किसे? अधिदेव का क्या मर्म है ? ॥ 1॥

इस देह में अधियज्ञ कैसे और किसको मानते ?
मरते समय कैसे जितेन्द्रिय जन तुम्हें पहिचानते ? ॥ 2॥

श्रीभगवान् ने कहा - -

अक्षर परम वह ब्रह्म है, अध्यात्म जीव स्वभाव ही ।
जो भूतभावोद्भव करे व्यापार कर्म कहा वही ॥ 3॥

अधिभूत नश्वर भाव है, चेतन पुरुष अधिदैव ही ।
अधियज्ञ मैं सब प्राणियों के देह बीच सदैव ही ॥ 4॥

तन त्यागता जो अन्त में मेरा मनन करता हुआ ।
मुझमें असंशय नर मिले वह ध्यान यों धरता हुआ ॥ 5॥

अन्तिम समय तन त्यागता जिस भाव से जन व्याप्त हो ।
उसमें रंगा रहकर सदा, उस भाव ही को प्राप्त हो ॥ 6॥

इस हेतु मुझको नित निरन्तर ही समर कर युद्ध भी ।
संशय नहीं, मुझमें मिले, मन बुद्धि मुझमें धर सभी ॥ 7॥

अभ्यास- बल से युक्त योगी चित्त अपना साध के ।
उत्तम पुरुष को प्राप्त होता है उसे आराध के ॥ 8॥

सर्वज्ञ शास्ता सूक्ष्मतम आदित्य- सम तम से परे ।
जो नित अचिन्त्य अनादि सर्वाधार का चिन्तन करे ॥ 9॥

कर योग- बल से प्राण भृकुटी- मध्य अन्तिम काल में ।
निश्चल हुआ वह भक्त मिलता दिव्य पुरुष विशाल में ॥ 10॥

अक्षर कहें वेदज्ञ, जिसमें राग तज यति जन जमें ।
हों ब्रह्मचारी जिसलिये, वह पद सुनो संक्षेप में ॥ 11॥

सब इन्द्रियों को साधकर निश्चल हृदय में मन धरे ।
फिर प्राण मस्तक में जमा कर धारणा योगी करे ॥ 12॥

मेरा लगाता ध्यान कहता ॐ अक्षर ब्रह्म ही ।
तन त्याग जाता जीव जो पाता परम गति है वही ॥ 13॥

भजता मुझे जो जन सदैव अनन्य मन से प्रीति से ।
निज युक्त योगी वह मुझे पाता सरल- सी रीति से ॥ 14॥

पाए हुए हैं सिद्धि- उत्तम जो महात्मा- जन सभी ।
पाकर मुझे दुख- धाम नश्वर- जन्म नहिं पाते कभी ॥ 15॥

विधिलोक तक जाकर पुनः जन जन्म पाते हैं यहीं ।
पर पा गए अर्जुन! मुझे वे जन्म फिर पाते नहीं ॥ 16॥

दिन- रात ब्रह्मा की, सहस्रों युग बड़ी जो जानते ।
वे ही पुरुष दिन- रैन की गति ठीक हैं पहिचानते ॥ 17॥

जब हो दिवस अव्यक्त से सब व्यक्त होते हैं तभी ।
फिर रात्रि होते ही उसी अव्यक्त में लय हों सभी ॥ 18॥

होता विवश सब भूत- गण उत्पन्न बारम्बार है ।
लय रात्रि में होता दिवस में जन्म लेता धार है ॥ 19॥

इससे परे फिर और ही अव्यक्त नित्य- पदार्थ है ।
सब जीव विनशे भी नहीं वह नष्ट होता पार्थ है ॥ 20॥

कहते परम गति हैं जिसे अव्यक्त अक्षर नाम है ।
पाकर जिसे लौटें न फिर मेरा वही पर धाम है ॥ 21॥

सब जीव जिसमें हैं सकल संसार जिससे व्याप्त है ।
वह पर- पुरुष होता अनन्य सुभक्ति से ही प्राप्त है ॥ 22॥

वह काल सुन, तन त्याग जिसमें लौटते योगी नहीं ।
वह भी कहूंगा काल जब मर लौट कर आते यहीं ॥ 23॥

दिन, अग्नि, ज्वाला, शुक्लपख, षट् उत्तरायण मास में ।
तन त्याग जाते ब्रह्मवादी, ब्रह्म ही के पास में ॥ 24॥

निशि, धूम्र में मर कृष्णपख, षट् दक्षिणायन मास में ।
नर चन्द्रलोक विशाल में बस फिर फँसे भव- त्रास में ॥ 25॥

ये शुक्ल, कृष्ण सदैव दो गति विश्व की ज्ञानी कहें ।
दे मुक्ति पहली, दूसरी से लौट फिर जग में रहें ॥ 26॥

ये मार्ग दोनों जान, योगी मोह में पड़ता नहीं ।
इस हेतु अर्जुन! योग- युत सब काल में हो सब कहीं ॥ 27॥

जो कुछ कहा है पुण्यफल, मख वेद से तप दान से ।
सब छोड़ आदिस्थान ले, योगी पुरुष इस ज्ञान से ॥ 28॥

आठवां अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

नौवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -

अब दोषदर्शी तू नहीं यों, गुप्त, सह- विज्ञान के ।
वह ज्ञान कहता हूँ, अशुभ से मुक्त हो जन जान के ॥ 1॥

यह राजविद्या, परम- गुप्त, पवित्र, उत्तम- ज्ञान है ।
प्रत्यक्ष फलप्रद, धर्मयुत, अव्यय, सरल, सुख- खान है ॥ 2॥

श्रद्धा न जिनको पार्थ है इस धर्म के शुभ सार में ।
मुझको न पाकर लौट आते मृत्युमय संसार में ॥ 3॥

अव्यक्त अपने रूप से जग व्याप्त मैं करता सभी ।
मुझमें सभी प्राणी समझ पर मैं नहीं उनमें कभी ॥ 4॥

मुझमें नहीं हैं भूत देखो योग- शक्ति- प्रभाव है ।
उत्पन्न करता पालता उनसे न किन्तु लगाव है ॥ 5॥

सब ओर रहती वायु है आकाश में जिस भाँति से ।
मुझमें सदा ही हैं समझ सब भूतगण इस भाँति से ॥ 6॥

कल्पान्त में मेरी प्रकृति में जीव लय होते सभी ।
जब कल्प का आरम्भ हो, मैं फिर उन्हें रचता तभी ॥ 7॥

अपनी प्रकृति आधीन कर, इस भूतगण को मैं सदा ।
उत्पन्न बारम्बार करता, जो प्रकृतिवश सर्वदा ॥ 8॥

बँधता नहीं हूँ पार्थ! मैं इस कर्म- बन्धन में कभी ।
रहकर उदासी- सा सदा आसक्ति तज करता सभी ॥ 9॥

अधिकार से मेरे प्रकृति रचती चराचर विश्व है ।
इस हेतु फिरकी की तरह फिरता बराबर विश्व है ॥ 10॥

मैं प्राणियों का ईश हूँ, इस भाव को नहिं जान के ।
करते अवज्ञा जड़, मुझे नर- देहधारी मान के ॥ 11॥

चित्त भ्रष्ट, आशा ज्ञान कर्म निरर्थ सारे ही किये ।
वे आसुरी अति राक्षसीय स्वभाव मोहात्मक लिये ॥ 12॥

दैवी प्रकृति के आसरे बुध- जन भजन मेरा करें ।
भूतादि अव्यय जान पार्थ! अनन्य मन से मन धरें ॥ 13॥

नित यत्न से कीर्तन करें दृढ़ व्रत सदा धरते हुए ।
करते भजन हैं भक्ति से मम वन्दना करते हुए ॥ 14॥

कुछ भेद और अभेद से कुछ ज्ञान- यज्ञ विधान से ।
पूजन करें मेरा कहीं कुछ सर्वतोमुख ध्यान से ॥ 15॥

मैं यज्ञ श्रौतस्मार्त हूँ एवं स्वधा आधार हूँ ।
घृत और औषधि, अग्नि, आहुति, मन्त्र का मैं सार हूँ ॥ 16॥

जग का पिता माता पितामह विश्व- पोषण- हार हूँ ।
ऋक् साम यजु श्रुति जानने के योग्य शुचि ओंकार हूँ ॥ 17॥

पोषक प्रलय उत्पत्ति गति आधार मित्र निधान हूँ ।
साक्षी शरण प्रभु बीज अव्यय में निवासस्थान हूँ ॥ 18॥

मैं ताप देता, रोकता जल, वृष्टि मैं करता कभी ।
मैं ही अमृत भी मृत्यु भी मैं सत् असत् अर्जुन सभी ॥ 19॥

जो सोमपा त्रैविद्य- जन निष्पाप अपने को किये ।
कर यज्ञ मुझको पूजते हैं स्वर्ग- इच्छा के लिये ॥
वे प्राप्त करके पुण्य लोक सुरेन्द्र का, सुरवर्ग में ॥
फिर दिव्य देवों के अनोखे भोग भोगें स्वर्ग में ॥ 20॥

वे भोग कर सुख- भोग को, उस स्वर्गलोक विशाल में ।
फिर पुण्य बीते आ फंसे इस लोक के दुख- जाल में ॥
यों तीन वेदों में कहे जो कर्म- फल में लीन हैं ॥
वे कामना- प्रियजन सदा आवागमन आधीन हैं ॥ 21॥

जो जन मुझे भजते सदैव अनन्य- भावापन्न हो ।
उनका स्वयं मैं ही चलाता योग- क्षेम प्रसन्न हो ॥ 22 ॥

जो अन्य देवों को भजें नर नित्य श्रद्धा- लीन हो ।
वे भी मुझे ही पूजते हैं पार्थ! पर विधि- हीन हो ॥ 23॥

सब यज्ञ- भोक्ता विश्व- स्वामी पार्थ मैं ही हूँ सभी ।
पर वे न मुझको जानते हैं तत्त्व से गिरते तभी ॥ 24॥

सुरभक्त सुर को पितृ को पाते पितर- अनुरक्त हैं ।
जो भूत पूजें भूत को, पाते मुझे मम भक्त हैं ॥ 25॥

अर्पण करे जो फूल फल जल पत्र मुझको भक्ति से ।
लेता प्रयत- चित भक्त की वह भेंट मैं अनुरक्ति से ॥ 26॥

कौन्तेय! जो कुछ भी करो तप यज्ञ आहुति दान भी ।
नित खानपानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी ॥ 27॥

हे पार्थ! यों शुभ- अशुभ- फल- प्रद कर्म- बन्धन- मुक्त हो ।
मुझमें मिलेगा मुक्त हो, संन्यास- योग- नियुक्त हो ॥ 28॥

द्वैषी हितैषी है न कोई, विश्व मुझमें एकसा ॥
पर भक्त मुझमें बस रहा, मैं भक्त के मन में बसा ॥ 29॥

यदि दुष्ट भी भजता अनन्य सुभक्ति को मन में लिये ।
है ठीक निश्चयवान् उसको साधु कहना चाहिये ॥ 30॥

वह धर्म- युत हो शीघ्र शाश्वत शान्ति पाता है यहीं ।
यह सत्य समझो भक्त मेरा नष्ट होता है नहीं ॥ 31॥

पाते परम- पद पार्थ! पाकर आसरा मेरा सभी ।
जो अड़ रहे हैं पाप- गति में, वैश्य वनिता शूद्र भी ॥ 32॥

फिर राज- ऋषि पुण्यात्म ब्राह्मण भक्त की क्या बात है ।
मेरा भजन कर, तू दुखद नश्वर जगत् में तात है ॥ 33॥

मुझमें लगा मन भक्त बन, कर यजन पूजन वन्दना ।
मुझमें मिलेगा मत्परायण युक्त आत्मा को बना ॥ 34॥
नवां अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

दसवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -
मेरे परम शुभ सुन महाबाहो! वचन अब और भी ।
तू प्रिय मुझे, तुझसे कहूँगा बात हित की मैं सभी ॥ 1॥

उत्पत्ति देव महर्षिगण मेरी न कोई जानते ।
सब भाँति इनका आदि हूँ मैं, यों न ये पहिचानते ॥ 2॥

जो जानता मुझको महेश्वर अज अनादि सदैव ही ।
ज्ञानी मनुष्यों में सदा सब पाप से छुटता वही ॥ 3॥

नित निश्चयात्मक बुद्धि ज्ञान अमूढ़ता सुख दुःख दम ।
उत्पत्ति लय एवं क्षमा, भय अभय सत्य सदैव शम ॥ 4॥

समता अहिंसा तुष्टि तप एवं अयश यश दान भी ।
उत्पन्न मुझसे प्राणियों के भाव होते हैं सभी ॥ 5॥

हे पार्थ! सप्त महर्षिजन एवं प्रथम मनु चार भी ।
मम भाव- मानस से हुए, उत्पन्न उनसे जन सभी ॥ 6॥

जो जानता मेरी विभूति, व योग- शक्ति यथार्थ है ।
संशय नहीं दृढ़- योग वह नर प्राप्त करता पार्थ है ॥ 7॥

मैं जन्मदाता हूँ सभी मुझसे प्रवर्तित तात हैं ।
यह जान ज्ञानी भक्त भजते भाव से दिन- रात हैं ॥ 8॥

मुझमें लगा कर प्राण मन, करते हुए मेरी कथा ।
करते परस्पर बोध, रमते तुष्ट रहते सर्वथा ॥ 9॥

इस भाँति होकर युक्त जो नर नित्य भजते प्रीति से ।
मति- योग ऐसा दूँ, मुझे वे पा सकें जिस रीति से ॥ 10॥

उनके हृदय में बैठ पार्थ! कृपार्थ अपने ज्ञान का ।
दीपक जलाकर नाश करता तम सभी अज्ञान का ॥ 11॥

अर्जुन ने कहा - -

तुम परम- ब्रह्म पवित्र एवं परमधाम अनूप हो ।
हो आदिदेव अजन्म अविनाशी अनन्त स्वरूप हो ॥ 12॥

नारद महा मुनि असित देवल व्यास ऋषि कहते यही ।
मुझसे स्वयं भी आप हे जगदीश! कहते हो वही ॥ 13॥

केशव! कथन सारे तुम्हारे सत्य ही मैं मानता ।
हे हरि! तुम्हारी व्यक्ति सुर दानव न कोई जानता ॥ 14॥

हे भूतभावन भूतईश्वर देवदेव जगत्पते ।
तुम आप पुरुषोत्तम स्वयं ही आपको पहिचानते ॥ 15॥

जिन- जिन महान् विभूतियों से व्याप्त हो संसार में ।
वे दिव्य आत्म- विभूतियाँ बतलाइये विस्तार में ॥ 16॥

चिन्तन सदा करता हुआ कैसे तुम्हें पहिचान लूँ ।
किन- किन पदार्थों में करूँ चिन्तन तुम्हारा जान लूँ ॥ 17॥

भगवन्! कहो निज योग और विभूतियाँ विस्तार से ।
भरता नहीं मन आपकी वाणी सुधामय धार से ॥ 18॥

श्रीभगवान् ने कहा - -

कौन्तेय! दिव्य विभूतिआँ मेरी अनन्त विशेष हैं ।
अब मैं बताऊँगा तुझे जो जो विभूति विशेष हैं ॥ 19॥

मैं सर्वजीवों के हृदय में अन्तरात्मा पार्थ! हूँ ।
सब प्राणियों का आदि एवं मध्य अन्त यथार्थ हूँ ॥ 20॥

आदित्यगण में विष्णु हूँ, सब ज्योति बीच दिनेश हूँ ।
नक्षत्र में राकेश, मरुतों में मरीचि विशेष हूँ ॥ 21॥

मैं साम वेदों में तथा सुरवृन्द बीच सुरेन्द्र हूँ ।
मैं शक्ति चेतन जीव में, मन इन्द्रियों का केन्द्र हूँ ॥ 22॥

शिव सकल रुद्रोँ बीच राक्षस यक्ष बीच कुबेर हूँ ।
मैं अग्नि वसुओं में, पहाड़ों में पहाड़ सुमेरु हूँ ॥ 23॥

मुझको बृहस्पति पार्थ! मुख्य पुरोहितों में जान तू ।
सेनानियों में स्कन्द, सागर सब सरों में मान तू ॥ 24॥

भृगु श्रेष्ठ ऋषियों में, वचन में मैं सदा ॐकार हूँ ।
सब स्थावरों में गिरि हिमालय, यज्ञ में जप- सार हूँ ॥ 25॥

मुनि कपिल सिद्धों बीच, नारद देव- ऋषियों में कहा ।
गन्धर्वगण में चित्ररथ, तरु- वर्ग में पीपल महा ॥ 26॥

उच्चैःश्रवा सारे हयों में, अमृत- जन्य अनूप हूँ ।
मैं हाथियों में श्रेष्ठ ऐरावत, नरों में भूप हूँ ॥ 27॥

सुरधेनु गौओं में, भुजंगों बीच वासुकि सर्प हूँ ।
मैं वज्र शस्त्रों में, प्रजा उत्पत्ति- कर कन्दर्प हूँ ॥ 28॥

मैं पितर गण में, अर्यमा हूँ, नाग- गण में शेष हूँ ।
यम शासकों में, जलचरों में वरुण रूप विशेष हूँ ॥ 29॥

प्रह्लाद दैत्यों बीच, संख्या- सूचकों में काल हूँ ।
मैं पक्षियों में गरुड़, पशुओं में मृगेन्द्र विशाल हूँ ॥ 30॥

गंगा नदों में, शस्त्र- धारी- वर्ग में मैं राम हूँ ।
मैं पवन् वेगों बीच, मीनों में मकर अभिराम हूँ ॥ 31॥

मैं आदि हूँ मध्यान्त हूँ हे पार्थ! सारे सर्ग का ।
विद्यागणों में ब्रह्मविद्या, वाद वादी- वर्ग का ॥ 32॥

सारे समासों बीच द्वन्द्व, अकार वर्णों में कहा ।
मैं काल अक्षय और अर्जुन विश्वमुख धाता महा ॥ 33॥

मैं सर्वहर्ता मृत्यु, सबका मूल जो होंगे अभी ।
तिय वर्ग में मेधा क्षमा धृति कीर्ति सुधि श्री वाक् भी ॥ 34॥

हूँ साम में मैं बृहत्साम, वसन्त ऋतुओं में कहा ।
मंगसिर महीनों बीच, गायत्री सुछन्दों में महा ॥ 35॥

तेजस्वियों का तेज हूँ मैं और छलियों में जुआ ।
जय और निश्चय, सत्व सारे सत्वशीलों का हुआ ॥ 36॥

मैं वृष्णियों में वासुदेव व पाण्डवों में पार्थ हूँ ।
मैं मुनिजनों में व्यास, कवियों बीच शुक्र यथार्थ हूँ ॥ 37॥

मैं शासकों का दण्ड, विजयी की सुनीति प्रधान हूँ ।
हूँ मौन गुह्यों में सदा, मैं ज्ञानियों का ज्ञान हूँ ॥ 38॥

इस भाँति प्राणीमात्र का जो बीज है, मैं हूँ सभी ।
मेरे बिना अर्जुन! चराचर है नहीं कोई कभी ॥ 39॥

हे पार्थ! दिव्य विभूतियाँ मेरी अनन्त अपार हैं ।
कुछ कह दिये दिग्दर्शनार्थ विभूति के विस्तार हैं ॥ 40॥

जो जो जगत् में वस्तु, शक्ति विभूति श्रीसम्पन्न हैं ।
वे जान मेरे तेज के ही अंश से उत्पन्न हैं ॥ 41॥

विस्तार से क्या काम तुमको जानलो यह सार है ।
इस एक मेरे अंश से व्यापा हुआ संसार है ॥ 42॥

दसवां अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

ग्यारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा - -

उपदेश यह अति गुप्त जो तुमने कहा करके दया ।
अध्यात्म विषयक ज्ञान से सब मोह मेरा मिट गया ॥ 1॥

विस्तार से सब सुन लिया उत्पत्ति लय का तत्त्व है ।
मैंने सुना सब आपका अक्षय अनन्त महत्व है ॥ 2॥

हैं आप वैसे आपने जैसा कहा है हे प्रभो ।
मैं देखना हूं चाहता ऐश्वर्यमय उस रूप को ॥ 3॥

समझें प्रभो यदि आप, मैं वह देख सकता हूँ सभी ।
तो वह मुझे योगेश! अव्यय रूप दिखलादो अभी ॥ 4॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
हे पार्थ! देखो दिव्य अनुपम विविध वर्णाकार के ।
शत- शत सहस्रों रूप मेरे भिन्न भिन्न प्रकार के ॥ 5॥

सब देख भारत! रुद्र वसु अश्विनि मरुत आदित्य भी ।
आश्चर्य देख अनेक अब पहले न देखे जो कभी ॥ 6॥

इस देह में एकत्र सारा जग चराचर देखले ।
जो और चाहे देखना इसमें बराबर देख ले ॥ 7॥

मुझको न अपनी आँख से तुम देख पाओगे कभी ।
मैं दिव्य देता दृष्टि, देखो योग का वैभव सभी ॥ 8॥

संजय ने कहा- -
जब पार्थ से श्रीकृष्ण ने इस भाँति हे राजन्! कहा ।
तब ही दिया ऐश्वर्य- युक्त स्वरूप का दर्शन महा ॥ 9॥

मुख नयन थे उसमें अनेकों ही अनोखा रूप था ।
पहिने अनेकों दिव्य गहने शस्त्र- साज अनूप था ॥ 10॥

सीमा- रहित अद्‌भुत महा वह विश्वतोमुख रूप था ।
धारण किये अति दिव्य माला वस्त्र गन्ध अनूप था ॥ 11॥

नभ में सहस रवि मिल उदय हों प्रभापुञ्ज महान् हो ।
तब उस महात्मा कान्ति के कुछ कुछ प्रकाश समान हो ॥ 12॥

उस देवदेव शरीर में देखा धनंजय ने तभी ।
बांटा विविध विध से जगत् एकत्र उसमें है सभी ॥ 13॥

रोमांच तन में हो उठा आश्चर्य से मानो जगे ।
तब यों धनंजय सिर झुका, कर जोड़ कर कहने लगे ॥ 14॥

अर्जुन ने कहा - -
भगवन्! तुम्हारी देह में मैं देखता सुर- गण सभी ।
मैं देखता हूँ देव! इसमें प्राणियों का संघ भी ॥
शुभ कमल आसन पर इसी में ब्रह्मदेव विराजते ।
इसमें महेश्वर और ऋषिगण, दिव्य पन्नग साजते ॥ 15॥

बहु बाहु इसमें हैं अनेकों ही उदरमय रूप है ।
मुख और आँखें हैं अनेकों, हरि- स्वरूप अनूप है ॥
दिखता न विश्वेश्वर तुम्हारा आदि मध्य न अन्त है ॥
मैं देखता सब ओर छाया विश्वरूप अनन्त है ॥ 16॥

पहिने मुकुट, मञ्जुल गदा, शुभ चक्र धरते आप हैं ।
हो तेज- निधि, सारी दिशा दैदीप्त करते आप हैं ॥
तुम दुर्निरीक्षय महान् अपरम्पार हे भगवान् हो ॥
सब ओर दिखते दीप्त अग्नि दिनेश सम द्युतिवान हो ॥ 17॥

तुम जानने के योग्य अक्षरब्रह्म अपरम्पार हो ।
जगदीश! सारे विश्व मण्डल के तुम्हीं आधार हो ॥
अव्यय सनातन धर्म के रक्षक सदैव महान् हो ॥
मेरी समझ से तुम सनातन पुरुष हे भगवान् हो ॥ 18॥

नहिं आदि मध्य न अन्त और अनन्त बल- भण्डार है ।
शशि- सूर्य रूपी नेत्र और अपार भुज- विस्तार है ॥
प्रज्वलित अग्नि प्रचण्ड मुख में देखता मैं धर रहे ॥
संसार सारा तप्त अपने तेज से हरि कर रहे ॥ 19॥

नभ भूमि अन्तर सब दिशा इस रूप से तुम व्यापते ।
यह उग्र अद्भुत रूप लखि त्रैलोक्य थर- थर काँपते ॥ 20॥

ये आप ही में देव- वृन्द प्रवेश करते जा रहे ।
डरते हुए कर जोड़ जय- जय देव शब्द सुना रहे ॥
सब सिद्ध- संघ महर्षिगण भी स्वस्ति कहते आ रहे ॥
पढ़ कर विविध विध स्तोत्र स्वामिन् आपके गुण गा रहे ॥ 21॥

सब रुद्रगण आदित्य वसु हैं साध्यगण सारे खड़े ।
सब पितर विश्वेदेव अश्विनि और सिद्ध बड़े बड़े ॥
गन्धर्वगण राक्षस मरुत समुदाय एवं यक्ष भी ॥
मन में चकित होकर हरे! वे देखते तुमको सभी ॥ 22॥

बहु नेत्र मुखवाला महाबाहो! स्वरूप अपार है ।
हाथों तथा पैरों व जंघा का बड़ा विस्तार है ॥
बहु उदर इसमें और बहु विकराल डाढ़ें हैं महा ॥
भयभीत इसको देख सब हैं भय मुझे भी हो रहा ॥ 23॥

यह गगनचुंबी जगमगाता हरि! अनेकों रंग का ।
आँखें बड़ी बलती, खुला मुख भी अनोखे ढ़ंग का ॥
यह देख ऐसा रूप मैं मन में हरे! घबरा रहा ॥
नहिं धैर्य धर पाता, न भगवन्! शान्ति भी मैं पा रहा ॥ 24॥

डाढ़ें भयंकर देख पड़ता मुख महाविकराल है ।
मानो धधकती यह प्रलय- पावक प्रचण्ड विशाल है ॥
सुख है न ऐसे देख मुख, भूला दिशायें भी सभी ॥
देवेश! जग- आधार! हे भगवन्! करो करुणा अभी ॥ 25॥

धृतराष्ट्र- सुत सब साथ उनके ये नृपति- समुदाय भी ।
श्री भीष्म द्रोणाचार्य कर्ण प्रधान अपने भट सभी ॥ 26॥

विकराल डाढ़ों युत भयानक आपके मुख में हरे ।
अतिवेग से सब दौड़ते जाते धड़ाधड़ हैं भरे ॥
ये दिख रहे कुछ दाँत में लटके हुए रण- शूर हैं ॥
इस डाढ़ में पिस कर अभी जिनके हुए शिर चूर हैं ॥ 27॥

जिस भाँति बहु सरिता- प्रवाह समुद्र प्रति जाते बहे ।
ऐसे तुम्हारे ज्वाल- मुख में वेग से नर जा रहे ॥ 28॥

जिस भाँति जलती ज्वाल में जाते पतंगे वेग से ।
यों मृत्यु हित ये नर, मुखों में आपके जाते बसे ॥ 29॥

सब ओर से इस ज्वालमय मुख में नरों को धर रहे ।
देवेश! रसना चाटते भक्षण सभी का कर रहे ॥
विष्णो! प्रभाएँ आपकी अति उग्र जग में छा रहीं ॥
निज तेज से संसार सारा ही सुरेश तपा रही ॥ 30॥

तुम उग्र अद्‌भुत रूपधारी कौन हो बतलाइये ।
हे देवदेव ! नमामि देव! प्रसन्न अब हो जाइये ॥
तुम कौन आदि स्वरूप हो, यह जानना मैं चाहता ॥
कुछ भी न मुझको आपकी इस दिव्य करनी का पता ॥ 31॥

श्रीभगवान् ने कहा - -

मैं काल हूँ सब लोक- नाशक उग्र अपने को किये ।
आया यहाँ संसार का संहार करने के लिये ॥
तू हो न हो तो भी धनंजय! देख बिन तेरे लड़े ॥
ये नष्ट होंगे वीरवर योधा बड़े सब जो खड़े ॥ 32॥

अतएव उठ रिपुदल- विजय कर, प्राप्त कर सम्मान को ।
फिर भोग इस धन- धान्य से परिपूर्ण राज्य महान् को ॥
हे पार्थ! मैंने वीर ये सब मार पहिले ही दिये ॥
आगे बढ़ो तुम युद्ध में बस नाम करने के लिये ॥ 33॥

ये भीष्म द्रोण तथा जयद्रथ कर्ण योद्धा और भी ।
जो वीरवर हैं मार पहिले ही दिये मैंने सभी ॥
अब मार इन मारे हुओं को, वीरवर! व्याकुल न हो ॥
कर युद्ध रण में शत्रुओं को पार्थ! जीतेगा अहो ॥ 34॥

संजय ने कहा - -

तब मुकुटधारी पार्थ सुन केशव- कथन इस रीति से ।
अपने उभय कर जोड़ कर कँपते हुए भयभीत से ॥
नमते हुए, गद्गद् गले से, और भी डरते हुए ॥
श्रीकृष्ण से बोले वचन, यों वन्दना करते हुए ॥ 35॥

अर्जुन ने कहा - -

होता जगत् अनुरक्त हर्षित आपका कीर्तन किये ।
सब भागते राक्षस दिशाओं में तुम्हारा भय लिये ॥
नमता तुम्हें सब सिद्ध- संघ सुरेश ! बारम्बार है ॥
हे हृषीकेश! समस्त ये उनका उचित व्यवहार है ॥ 36॥

तुम ब्रह्म के भी आदिकारण और उनसे श्रेष्ठ हो ।
फिर हे महात्मन! आपकी यों वन्दना कैसे न हो ॥
संसार के आधार हो, हे देवदेव! अनन्त हो ॥
तुम सत्, असत् इनसे परे अक्षर तुम्हीं भगवन्त हो ॥ 37॥

भगवन्! पुरातन पुरुष हो तुम विश्व के आधार हो ।
हो आदिदेव तथैव उत्तम धाम अपरम्पार हो ॥
ज्ञाता तुम्हीं हो जानने के योग्य भी भगवन्त् हो ॥
संसार में व्यापे हुए हो देवदेव! अनन्त हो ॥ 38॥

तुम वायु यम पावक वरुण एवं तुम्हीं राकेश हो ।
ब्रह्मा तथा उनके पिता भी आप ही अखिलेश हो ॥
हे देवदेव! प्रणाम देव! प्रणाम सहसों बार हो ॥
फिर फिर प्रणाम! प्रणाम! नाथ, प्रणाम! बारम्बार हो ॥ 39॥

सानन्द सन्मुख और पीछे से प्रणाम सुरेश! हो ।
हरि बार- बार प्रणाम चारों ओर से सर्वेश! हो ॥
है वीर्य शौर्य अनन्त, बलधारी अतुल बलवन्त हो ॥
व्यापे हुए सबमें इसी से ' सर्व' हे भगवन्त! हो ॥ 40॥

तुमको समझ अपना सखा जाने बिना महिमा महा ।
यादव! सखा! हे कृष्ण! प्यार प्रमाद या हठ से कहा ॥ 41॥

अच्युत! हँसाने के लिये आहार और विहार में ।
सोते अकेले बैठते सबमें किसी व्यवहार में ॥
सबकी क्षमा मैं मांगता जो कुछ हुआ अपराध हो ॥
संसार में तुम अतुल अपरम्पार और अगाध हो ॥ 42॥

सारे चराचर के पिता हैं आप जग- आधार हैं ।
हैं आप गुरुओं के गुरु अति पूज्य अपरम्पार हैं ॥
त्रैलोक्य में तुमसा प्रभो! कोई कहीं भी है नहीं ॥
अनुपम अतुल्य प्रभाव बढ़कर कौन फिर होगा कहीं ॥ 43॥

इस हेतु वन्दन- योग्य ईश! शरीर चरणों में किये ।
मैं आपको करता प्रणाम प्रसन्न करने के लिये ॥
ज्यों तात सुत के, प्रिय प्रिया के, मित्र सहचर अर्थ हैं ॥
अपराध मेरा आप त्यों ही सहन हेतु समर्थ हैं ॥ 44॥

यह रूप भगवन्! देखकर, पहले न जो देखा कभी ।
हर्षित हुआ मैं किन्तु भय से है विकल भी मन अभी ॥
देवेश! विश्वाधार! देव! प्रसन्न अब हो जाइये ॥
हे नाथ! पहला रूप ही अपना मुझे दिखलाइये ॥ 45॥

मैं चाहता हूँ देखना, तुमको मुकुट धारण किये ।
हे सहसबाहो! शुभ करों में चक्र और गदा लिये ॥
हे विश्वमूर्ते! फिर मुझे वह सौम्य दर्शन दीजिये ॥
वह ही चतुर्भुज रूप हे देवेश! अपना कीजिये ॥ 46॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
हे पार्थ! परम प्रसन्न हो तुझ पर अनुग्रह- भाव से ।
मैने दिखाया विश्वरूप महान योग- प्रभाव से ॥
यह परम तेजोमय विराट् अनंत आदि अनूप है ॥
तेरे सिवा देखा किसी ने भी नहीं यह रूप है ॥ 47॥

हे कुरुप्रवीर! न वेद से, स्वाध्याय यज्ञ न दान से ।
दिखता नहीं मैं उग्र तप या क्रिया कर्म- विधान से ॥
मेरा विराट् स्वरूप इस नर- लोक में अर्जुन! कहीं ॥
अतिरिक्त तेरे और कोई देख सकता है नहीं ॥ 48॥

यह घोर- रूप निहार कर मत मूढ़ और अधीर हो ।
फिर रूप पहला देख, भय तज तुष्ट मन में वीर हो ॥ 49॥

संजय ने कहा - -
यों कह दिखाया रूप अपना सौम्य तन फिर धर लिया ।
भगवान् ने भयभीत व्याकुल पार्थ को धीरज दिया ॥ 50॥

अर्जुन ने कहा- -
यह सौम्य नर- तन देख भगवन्! मन ठिकाने आ गया ।
जिस भाँति पहले था वही अपनी अवस्था पा गया ॥ 51॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
हे पार्थ! दुर्लभ रूप यह जिसके अभी दर्शन किये ।
सुर भी तरसते हैं इसी की लालसा मन में लिये ॥ 52॥

दिखता न मैं तप, दान अथवा यज्ञ, वेदों से कहीं ।
देखा जिसे तूने उसे नर देख पाते हैं नहीं ॥ 53॥

हे पार्थ! एक अनन्य मेरी भक्ति से सम्भव सभी ।
यह ज्ञान, दर्शन, और मुझमें तत्त्व जान प्रवेश भी ॥ 54॥

मेरे लिये जो कर्म- तत्पर, नित्य मत्पर, भक्त है ।
पाता मुझे वह जो सभी से वैर हीन विरक्त है ॥ 55॥

ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

बारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा - -

अव्यक्त को भजते कि जो धरते तुम्हारा ध्यान हैं ।
इन योगियों में योगवेत्ता कौन श्रेष्ठ महान हैं ॥ 1॥

श्रीभगवान् ने कहा - -

कहता उन्हें मैं श्रेष्ठ मुझमें चित्त जो धरते सदा ।
जो युक्त हो श्रद्धा- सहित मेरा भजन करते सदा ॥ 2॥

अव्यक्त, अक्षर, अनिर्देश्य, अचिन्त्य नित्य स्वरूप को ।
भजते अचल, कूटस्थ, उत्तम सर्वव्यापी रूप को ॥ 3॥

सब इन्द्रियाँ साधे सदा समबुद्धि ही धरते हुए ।
पाते मुझे वे पार्थ प्राणी मात्र हित करते हुए ॥ 4॥

अव्यक्त में आसक्त जो होता उन्हें अति क्लेश है ।
पाता पुरुष यह गति, सहन करके विपत्ति विशेष है ॥ 5॥

हो मत्परायण कर्म सब अर्पण मुझे करते हुए ।
भजते सदैव अनन्य मन से ध्यान जो धरते हुए ॥ 6॥

मुझमें लगाते चित्त उनका शीघ्र कर उद्धार मैं ।
इस मृत्युमय संसार से बेड़ा लगाता पार मैं ॥ 7 ॥

मुझमें लगाले मन, मुझी में बुद्धि को रख सब कहीं ।
मुझमें मिलेगा फिर तभी इसमें कभी संशय नहीं ॥ 8॥

मुझमें धनंजय! जो न ठीक प्रकार मन पाओ बसा ।
अभ्यास- योग प्रयत्न से मेरी लगालो लालसा ॥ 9॥

अभ्यास भी होता नहीं तो कर्म कर मेरे लिये ।
सब सिद्धि होगी कर्म भी मेरे लिये अर्जुन! किये ॥ 10॥

यह भी न हो तब आसरा मेरा लिये कर योग ही।
कर चित्त-संयम कर्मफल के त्याग सारे भोग ही ॥ 11॥

अभ्यास पथ से ज्ञान उत्तम ज्ञान से गुरु ध्यान है।
गुरु ध्यान से फलत्याग करता त्याग शान्ति प्रदान है ॥ 12॥

बिन द्वेष सारे प्राणियों का मित्र करुणावान् हो।
सम दुःखसुख में मद न ममता क्षमाशील महान् हो ॥ 13॥

जो तुष्ट नित मन बुद्धि से मुझमें हुआ आसक्त है।
दृढ़ निश्चयी है संयमी प्यारा मुझे वह भक्त है ॥ 14॥

पाते न जिससे क्लेश जन उनसे न पाता आप ही।
भय क्रोध हर्ष विषाद बिन प्यारा मुझे है जन वही ॥ 15॥

जो शुचि उदासी दक्ष है जिसको न दुख बाधा रही।
इच्छा रहित आरम्भ त्यागी भक्त प्रिय मुझको वही ॥ 16॥

करता न द्वेष न हर्ष जो बिन शोक है बिन कामना।
त्यागे शुभाशुभ फल वही है भक्त प्रिय मुझको घना ॥ 17॥

सम शत्रु मित्रों से सदा अपमान मान समान है।
शीतोष्ण सुख-दुख सम जिसे आसक्ति बिन मतिमान है ॥ 18॥

निन्दा प्रशंसा सम जिसे मौनी सदा संतुष्ट ही।
अनिकेत निश्चल बुद्धिमय प्रिय भक्त है मुखको वही ॥ 19॥

जो मत्परायण इस सुधामय धर्म में अनुरक्त हैं।

वे नित्य श्रद्धावान जन मेरे परम प्रिय भक्त हैं॥ 20॥

बारहवां अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

तेरहवां अध्याय

श्री भगवान् बोले -

कौन्तेय, यह तन क्षेत्र है ज्ञानी बताते हैं यही ।
जो जानता इस क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ कहलाता वही ॥ 1॥

हे पार्थ, क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ जान महान तू ।
क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र का सब ज्ञान मेरा जान तू ॥ 2॥

वह क्षेत्र जो, जैसा, जहाँ से, जिन विकारों-युत, सभी ।
संक्षेप में सुन, जिस प्रभाव समेत वह क्षेत्रज्ञ भी ॥ 3॥

बहु भाँति ऋषियों और छन्दों से अनेक प्रकार से ।
गाया पदों में ब्रह्मसूत्रों के सहेतु विचार से ॥ 4॥

मन बुद्धि एवं महाभूत प्रकृति अहंकृत भाव भी ।
पाँचों विषय सब इन्द्रियों के और इन्द्रियगण सभी ॥ 5॥

सुख-दुःख इच्छा द्वेष धृत्ति संघात एवं चेतना ।
संक्षेप में यह क्षेत्र है समुदाय जो इनका बना ॥ 6॥

अभिमान दम्भ अभाव, आर्जव, शौच, हिंसाहीनता ।
थिरता, क्षमा, निग्रह तथा आचार्य-सेवा दीनता ॥ 7॥

इन्द्रिय-विषय-वैराग्य एवं मद सदैव निवारना ।
जीवन, जरा, दुख, रोग। मृत्यु सदोष नित्य विचारना ॥ 8॥

नहिं लिप्त नारी पुत्र में, सब त्यागना फल-वासना ।
नित शुभ अशुभ की प्राप्ति में भी एकसा रहना बना ॥ 9॥

मुझमें अनन्य विचार से व्यभिचार विरहित भक्ति हो ।
एकान्त का सेवन, न जन समुदाय में आसक्ति हो ॥ 10॥

अध्यात्मज्ञान व तत्त्वज्ञान विचार, यह सब ज्ञान है ।
विपरीत इनके और जो कुछ है सभी अज्ञान है ॥ 11॥

अब वह बताता ज्ञेय जिसके ज्ञान से निस्तार है ।
नहिं सत् असत्, परब्रह्म तो अनादि और अपार है ॥ 12॥

सर्वत्र उसके पाणि पद सिर नेत्र मुख सब ओर ही ।
सब ओर उसके कान हैं, सर्वत्र फैला है वही ॥ 13॥

इन्द्रिय-गुणों का भास उसमें किन्तु इन्द्रिय-हीन है ।
हो अलग जग-पालक, निर्गुण होकर गुणों में लीन है ॥ 14॥

भीतर व बाहर प्राणियों में दूर भी है पास भी
वह चर अचर अति सूक्ष्म है जाना नहीं जाता कभी ॥ 15॥

अविभक्त होकर प्राणियों में वह विभक्त सदैव है ।
वह ज्ञेय पालक और नाशक जन्मदाता देव है ॥ 16॥

वह ज्योतियों की ज्योति है, तम से परे है, ज्ञान है ।
सब में बसा है, ज्ञेय है, वह ज्ञानगम्य महान् है ॥ 17॥

यह क्षेत्र, ज्ञान, महान् ज्ञेय, कहा गया संक्षेप से ।
हे पार्थ, इसको जान मेरा भक्त मुझमें आ बसे ॥ 18॥

यह प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही अनादि विचार हैं ।
पैदा प्रकृति से ही समझ, गुण तीन और प्रकार हैं ॥ 19॥

है कार्य एवं करण की उत्पत्ति कारण प्रकृति ही ।
इस जीव को कारण कहा, सुख-दुःख भोग निमित्त ही ॥ 20॥

रहकर प्रकृति में नित पुरुष, करता प्रकृति-गुण भोग है ।
अच्छी बुरी सब योनियाँ, देता यही गुण-योग है ॥ 21॥

द्रष्टा व अनुमन्ता सदा, भर्ता प्रभोक्ता शिव महा ।
इस देह में परमात्मा, उस पर-पुरुष को है कहा ॥ 22॥

ऐसे पुरुष एवं प्रकृति को, गुण सहित जो जान ले ।
बरताव कैसा भी करे वह जन्म फिर जग में न ले ॥ 23॥

कुछ आप ही में आप आत्मा देखते हैं ध्यान से ।
कुछ कर्म-योगी कर्म से, कुछ सांख्य-योगी ज्ञान से ॥ 24॥

सुन दूसरों से ही किया करते भजन अनजान हैं ।
तरते असंशय मृत्यु वे, श्रुति में लगे मतिमान् हैं ॥ 25॥

जानो चराचर जीव जो पैदा हुए संसार में ।
सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से विस्तार में ॥ 26॥

अविनाशि, नश्वर सर्वभूतों में रहे सम नित्य ही ।
इस भाँति ईश्वर को पुरुष जो देखता देखे वही ॥ 27॥

जो देखता समभाव से ईश्वर सभी में व्याप्त है ।
करता न अपनी घात है, करता परमपद प्राप्त है ॥ 28॥

करती प्रकृति सब कर्म, आत्मा है अकर्ता नित्य ही ।
इस भाँति से जो देखता है, देखता है जन वही ॥ 29॥

जब प्राणियों की भिन्नता जन एक में देखे सभी ।
विस्तार देखे एक से ही, ब्रह्म को पाता तभी ॥ 30॥

यह ईश अव्यय, निर्गुण और अनादि होने से सदा ।
करता न होता लिप्त है, रह देह में भी सर्वदा ॥ 31॥

नभ सर्वव्यापी सूक्ष्म होने से न जैसे लिप्त हो ।
सर्वत्र आत्मा देह में रहकर न वैसे लिप्त हो ॥ 32॥

ज्यों एक रवि सम्पूर्ण जग में तेज भरता है सदा ।
यों ही प्रकाशित क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ करता सर्वदा ॥ 33॥

क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र अन्तर, ज्ञान से समझें सही ।
समझें प्रकृति से छूटना, जो ब्रह्म को पाते वही ॥ 34॥

तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

चौदहवाँ अध्याय

श्री भगवान् बोले

अतिश्रेष्ठ ज्ञानों में बताता ज्ञान मैं अब और भी ।
मुनि पा गये हैं सिद्धि जिसको जानकर जग में सभी ॥ 1॥

इस ज्ञान का आश्रय लिए जो रूप मेरा हो रहें ।
उत्पत्ति-काल न जन्म लें, लय-काल में न व्यथा सहें ॥ 2॥

इस प्रकृति अपनी योनि में, मैं गर्भ रखता हूँ सदा ।
उत्पन्न होते हैं उसीसे सर्व प्राणी सर्वदा ॥ 3॥

सब योनियों में मूर्तियों के जो अनेकों रूप हैं ।
मैं बीज-प्रद पिता हूँ, प्रकृति योनि अनूप हैं ॥ 4॥

पैदा प्रकृति से सत्त्व, रज, तम त्रिगुण का विस्तार है ।
इस देह में ये जीव को लें बांध, जो अविकार है ॥ 5॥

अविकार सतगुण है प्रकाशक, क्योंकि निर्मल आप है ।
यह बांध लेता जीव को सुख ज्ञान से निष्पाप है ॥ 6॥

जानो रजोगुण रागमय, उत्पन्न तृष्णा संग से ।
वह बांध लेता जीव को कौन्तेय, कर्म-प्रसंग से ॥ 7॥

अज्ञान से उत्पन्न तम सब जीव को मोहित करे ।
आलस्य, नींद, प्रमाद से यह जीव को बन्धित करे ॥ 8॥

सुख में सतोगुण, कर्म में देता रजोगुण संग है ।
ढ़क कर तमोगुण ज्ञान को, देता प्रमाद प्रसंग है ॥ 9॥

रज तम दबें तब सत्त्व गुण, तम सत्व दबते रज बढ़ए ।
रज सत्त्व दबते ही तमोगुण देहधारी पर चढ़ए ॥ 10॥

जब देह की सब इन्द्रियों में ज्ञान का हो चाँदना ।
तब जान लेना चाहिए तन में सतोगुण है घना ॥ 11॥

तृष्णा अशान्ति प्रवृत्ति होकर मन प्रलोभन में पड़ए ।
आरम्भ होते कर्म के अर्जुन, रजोगुण जब बढ़ए ॥ 12॥

कौन्तेय, मोह प्रमाद हो, जब हो न मन में चाँदना ।
उत्पन्न हो आलस्य जब, होता तमोगुण है घना ॥ 13॥

इस देह में यदि सत्त्वगुण की वृद्धि मरते काल है ।
तो प्राप्त करता ज्ञानियों का शुद्ध लोक विशाल है ॥ 14॥

रज-वृद्धि में मर, देह कर्मासक्त पुरुषों में धरे ।
जड़ योनियों में जन्मता, यदि जन तमोगुण में मरे ॥ 15॥

फल पुण्य कर्मों का सदा शुभ श्रेष्ठ सात्त्विक ज्ञान है ।
फल दुख रजोगुण का, तमोगुण-फल सदा अज्ञान है ॥ 16॥

उत्पन्न सत से ज्ञान, रज से नित्य लोभ प्रधान है ।
है मोह और प्रमाद तमगुण से सदा अज्ञान है ॥ 17॥

सात्त्विक पुरुष स्वर्गादि में, नरलोक में राजस बसें ।
जो तामसी गुण में बसें, वे जन अधोगति में फँसें ॥ 18॥

कर्ता न कोई तज त्रिगुण, यह देखता द्रष्टा जभी ।
जाने गुणों से पार जब, पाता मुझे है जन तभी ॥ 19॥

जो देहधारी, देह-कारण पार ये गुण तीन हो ।
छुट जन्म मृत्यु जरादि दुख से, वह अमृत में लीन हो ॥ 20॥

अर्जुन बोले

लक्षण कहो उनके प्रभो, जन जो त्रिगुण से पार हैं ।
किस भाँति होते पार, क्या उनके कहो आचार हैं ॥ 21॥

श्री भगवान् बोले

पाकर प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह, न पार्थ, इनसे द्वेष है ।
यदि हों नहीं वे प्राप्त, उनकी लालसा न विशेष है ॥ 22॥

रहता उदासीन-सा गुणों से, होए नहीं विचलित कहीं ।
सब त्रिगुण करते कार्य हैं, यह जान जो डिगता नहीं ॥ 23॥

है स्वस्थ, सुख-दुख सम जिसे, सम ढेल पत्थर स्वर्ण भी ।
जो धीर, निन्दास्तुति जिसे सम, तुल्य अप्रिय-प्रिय सभी ॥ 24॥

सम बन्धु वैरी हैं जिसे अपमान मान समान है ।
आरम्भ त्यागे जो सभी, वह गुणातीत महान है ॥ 25॥

जो शुद्ध निश्चल भक्ति से भजता मुझे है नित्य ही ।
तीनों गुणों से पार होकर ब्रह्म को पाता वही ॥ 26॥

अव्यय अमृत मैं और मैं ही ब्रह्मरूप महान हूँ ।
मैं ही सनातन धर्म और अपार मोद-निधान हूँ ॥ 27॥

चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

पन्द्रहवा अध्याय

श्री भगवान् ने कहा --

है मूल ऊपर शाख नीचे पत्र जिसके वेद हैं ।
वे वेदवित् जो जानते अश्वत्थ - अव्यय - भेद हैं ॥ 1॥

पल्लव विषय, गुण से पली अध- ऊर्ध्व शाखा छा रहीं ।
नर- लोक में नीचे जड़एं कर्मानुबन्धी जा रहीं ॥ 2॥

उसका यहां मिलता स्वरूप न आदि मध्याधार से ।
दृढमूल यह अश्वत्थ काट असंग शस्त्र- प्रहार से ॥ 3॥

फिर वह निकालो ढूंढकर पद श्रेष्ठ ठीक प्रकार से ।
कर प्राप्त जिसको फिर न लौटे, छूटकर संसार से ॥
मैं शरण उसकी हूँ पुरुष जो आदि और महान है ।
उत्पन्न जिससे सब पुरातन यह प्रवृत्ति- विधान है ॥ 4॥

जीता जिन्होंने संग- दोष न मोह जिनमें मान है ।
मन में सदा जिनके जगा अध्यात्म- ज्ञान प्रधान है ॥
जिनमें न कोई कामना सुख- दुःख और न द्वन्द्व ही ।
अव्यय परमपद को सदा ज्ञानी पुरुष पाते वही ॥ 5॥

जिसमें न सूर्य प्रकाश चन्द्र न आग ही का काम है ।
लौटे न जन जिसमें पहुँच मेरा वही पर धाम है ॥ 6॥

इस लोक में मेरा सनातन अंश है यह जीव ही ।
मन के सहित छै प्रकृतिवासी खींचता इन्द्रिय वही ॥ 7॥

जब जीव लेता देह अथवा त्यागता सम्बन्ध को ।
करता ग्रहण इनको सुमन से वायु जैसे गंध को ॥ 8॥

रसना, त्वचा, दृग, कान एवं नाक, मन- आश्रय लिये ।
यह जीव सब सेवन किया करता विषय निर्मित किये ॥ 9॥

जाते हुए तन त्याग, रहते, भोगते गुणयुक्त भी ।
जानें न इसको मूढ़ मानव, जानते ज्ञानी सभी ॥ 10॥

कर यत्न योगी आपमें इसको बसा पहिचानते ।
पर यत्न करके भी न मूढ़ अशुद्ध- आत्मा जानते ॥ 11॥

जिससे प्रकाशित है जगत्, जो तेज दिव्य दिनेश में ।
वह तेज मेरा तेज है जो अग्नि में राकेश में ॥ 12॥

क्षिति में बसा निज तेज से मैं प्राणियों को धर रहा ।
रस रूप होकर सोम सारी पुष्ट औषधि कर रहा ॥ 13॥

मैं प्राणियों में बस रहा हो रूप वैश्वानर महा ।
पाचन चतुर्विधि अन्न प्राणापान- युत हो कर रहा ॥ 14॥

सुधि ज्ञान और अपोह मुझसे मैं सभी में बस रहा ।
वेदान्तकर्ता वेदवेद्य सुवेदवित् मुझको कहा ॥ 15॥

इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं सर्वदा ।
क्षर सर्व भूतों को कहा कूटस्थ है अक्षर सदा ॥ 16॥

कहते जिसे परमात्मा उत्तम पुरुष इनसे परे ।
त्रैलोक्य में रह ईश अव्यय सर्व जग पोषण करे ॥ 17॥

क्षर और अक्षर से परे मैं श्रेष्ठ हूं संसार में ।
इस हेतु पुरुषोत्तम कहाया वेद लोकाचार में ॥ 18॥

तज मोह पुरुषोत्तम मुझे जो पार्थ! लेता ज्ञान है ।
सब भाँति वह सर्वज्ञ हो भजता मुझे मतिमान् है ॥ 19॥

मैंने कहा यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान महान् है ।
यह जानकर करता सदा जीवन सफल मतिमान् है ॥ 20॥

पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

हरिगीता

सोलहवां अध्याय

श्री भगवान् ने कहा --

भय- हीनता, दम, सत्त्व की संशुद्धि, दृढ़ता ज्ञान की ।
तन- मन- सरलता, यज्ञ, तप, स्वाध्याय, सात्विक दान भी ॥ 1॥

मृदुता, अहिंसा, सत्य, करुणा, शान्ति, क्रोध- विहीनता ।
लज्जा, अचञ्चलता, अनिन्दा, त्याग तृष्णाहीनता ॥ 2॥

धृति, तेज, पावनता, क्षमा, अद्रोह, मान- विहीनता ।
ये चिन्ह उनके पार्थ! जिनको प्राप्त दैवी सम्पदा ॥ 3॥

मद, मान, मिथ्याचार, क्रोध, कठोरता, अज्ञान भी ।
ये आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए पाते सभी ॥ 4॥

दे मोक्ष दैवी, बाँधती है आसुरी सम्पत्ति ये ।
मत शोक अर्जुन! कर हुआ तू दैव- संपद् को लिये ॥ 5॥

दो भाँति की है सृष्टि दैवी, आसुरी संसार में ।
सुन आसुरी अब पार्थ! दैवी कह चुका विस्तार में ॥ 6॥

क्या है प्रवृत्ति निवृत्ति! जग में जानते आसुर नहीं ।
आचार, सत्य, विशुद्धता होती नहीं उनमें कहीं ॥ 7॥

कहते असुर झूठा जगत्, बिन ईश बिन आधार है ।
केवल परस्पर योग से बस भोग- हित संसार है ॥ 8॥

इस दृष्टि को धर, मूढ़, नर, नष्टात्म, रत अपकार में ।
जग- नाश हित वे क्रूर- कर्मी जन्मते संसार में ॥ 9॥

मद मान दम्भ- विलीन, काम अपूर का आश्रय लिये ।
वर्तें अशुचि नर मोह वश होकर असत् आग्रह किये ॥ 10॥

उनमें मरण पर्यन्त चिन्ताएँ अनन्त सदा रहें ।
वे भोग- विषयों में लगे आनन्द उस ही को कहें ॥ 11॥

आशा कुबन्धन में बँधे, धुन क्रोध एवं काम की ।
सुख- भोग हित अन्याय से इच्छा करें धन धाम की ॥ 12॥

यह पा लिया अब वह मनोरथ सिद्ध कर लूंगा सभी ।
यह धन हुआ मेरा मिलेगा और भी आगे अभी ॥ 13॥

यह शत्रु मैंने आज मारा, कल हनूंगा और भी ।
भोगी, सुखी, बलवान, ईश्वर, सिद्ध हूँ, मैं ही सभी ॥ 14॥

श्रीमान् और कुलीन मैं हूं कौन मुझसे और हैं ।
मख, दान, सुख भी मैं करूँगा, मूढ़ता- मोहित कहें ॥ 15॥

भूले अनेकों कल्पना में मोह- बन्धन बीच हैं ।
वे काम- भोगों में फँसे पड़ते नरक में नीच हैं ॥ 16॥

धन, मान, मद में मस्त, ऐंठू निज- प्रशंसक अज्ञ हैं ।
वे दम्भ से विधिहीन करते नाम ही को यज्ञ हैं ॥ 17॥

बल, काम क्रोध, घमण्ड वश, निन्दा करें मद से तने ।
सब में व अपने में बसे मुझ देव के द्वेषी बने ॥ 18॥

जो हैं नराधम क्रूर द्वेषी लीन पापाचार में ।
उनको गिराता नित्य आसुर योनि में संसार में ॥ 19॥

वे जन्म- जन्म सदैव आसुर योनि ही पाते रहें ।
मुझको न पाकर अन्त में अति ही अधोगति को गहें ॥ 20॥

ये काम लालच क्रोध तीनों ही नरक के द्वार हैं ।
इस हेतु तीनों आत्म- नाशक त्याज्य सर्वप्रकार हैं ॥ 21॥

इन नरक द्वारों से पुरुष जो मुक्त पार्थ! सदैव ही ।
शुभ आचरण निज हेतु करता परमगति पाता वही ॥ 22॥

जो शास्त्रविधि को छोड़, करता कर्म मनमाने सभी ।
वह सिद्धि, सुख अथवा परमगति को न पाता है कभी ॥ 23॥

इस हेतु कार्य- अकार्य- निर्णय मान शास्त्र- प्रमाण ही ।
करना कहा जो शास्त्र में है, जानकर वह्, कर वही ॥ 24॥

सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

सत्रहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा --

करते यजन जो शास्त्रविधि को छोड़ श्रद्धायुक्त हो ।
हे कृष्ण! उनकी सत्त्व, रज, तम कौनसी निष्ठा कहो ॥ 1॥

श्रीभगवान् ने कहा --
श्रद्धा स्वभावज प्राणियों में पार्थ! तीन प्रकार से ।
सुन सात्त्विकी भी राजसी भी तामसी विस्तार से ॥ 2॥

श्रद्धा सभी में सत्त्व सम, श्रद्धा स्वरूप मनुष्य है ।
जिसकी रहे जिस भाँति श्रद्धा वह उसी- सा नित्य है ॥ 3॥

सात्विक सुरों का, यक्ष राक्षस का यजन राजस करें ।
नित भूत प्रेतों का यजन जन तामसी मन में धरें ॥ 4॥

जो घोर तप तपते पुरुष हैं शास्त्र- विधि से हीन हो ।
मद- दम्भ- पूरित, कामना बल राग के आधीन हो ॥ 5॥

तन पंच- भूतों को, मुझे भी - - - देह में जो बस रहा ।
जो कष्ट देते जान उनको मूढ़मति आसुर महा ॥ 6॥

हे पार्थ! प्रिय सबको सदा आहार तीन प्रकार से ।
इस भाँति ही तप दान मख भी हैं, सुनो विस्तार से ॥ 7॥

देंं आयु, सात्विकबुद्धि, बल, सुख, प्रीति एवं स्वास्थ्य भी ।
रसमय चिरस्थिर हृद्य चिकने खाद्य सात्विक प्रिय सभी ॥ 8॥

नमकीन, कटु, खट्टे, गरम, रूखे व दाहक, तीक्ष्ण ही ।
दुख- शोक- रोगद खाद्य, प्रिय हैं राजसी को नित्य ही ॥ 9॥

रक्खा हुआ कुछ काल का, रसहीन बासी या सड़ा ।
नर तामसी अपवित्र भोजन भोगते जूठा पड़ा ॥ 10॥

फल- आश तज, जो शास्त्र विधिवत्, मानकर कर्तव्य ही ।
अतिशान्त मन करके किया हो, यज्ञ सात्विक है वही ॥ 11॥

हे भरतश्रेष्ठ! सदैव ही फल- वासना जिसमें बसी ।
दम्भाचरण हित जो किया वह यज्ञ जानो राजसी ॥ 12॥

विधि- अन्नदान- विहीन जो, बिन दक्षिणा के हो रहा ।
बिन मन्त्र- श्रद्धा, यज्ञ जो वह तामसी जाता कहा ॥ 13॥

सुर द्विज तथा गुरु प्राज्ञ पूजन ब्रह्मचर्य सदैव ही ।
शुचिता अहिंसा नम्रता तन की तपस्या है यही ॥ 14॥

सच्चे वचन, हितकर, मधुर उद्वेग- विरहित नित्य ही ।
स्वाध्याय का अभ्यास भी, वाणी- तपस्या है यही ॥ 15॥

सौम्यत्व, मौन, प्रसाद मन का, शुद्ध भाव सदैव ही ।
करना मनोनिग्रह सदा मन की तपस्या है यही ॥ 16॥

श्रद्धा रहित हो योगयुत फल वासनायें तज सभी ।
करते पुरुष, तप ये त्रिविध, सात्विक तपस्या है तभी ॥ 17॥

सत्कार पूजा मान के हित दम्भ से जो हो रहा ।
वह तप अनिश्चित और नश्वर, राजसी जाता कहा ॥ 18॥

जो मूढ़- हठ से आप ही को कष्ट देकर हो रहा ।
अथवा किया पर- नाश- हित, तप तामसी उसको कहा ॥ 19॥

देना समझ कर अनुपकारी को दिया जो दान है ।
वह दान सात्विक देश काल सुपात्र का जब ध्यान है ॥ 20॥

जो दान प्रत्युपकार के हित क्लेश पाकर के किया ।
है राजसी वह दान जो फल आश के हित है दिया ॥ 21॥

बिन देश काल सुपात्र देखे जो दिया बिन मान है ।
अथवा दिया अवहेलना से तामसी वह दान है ॥ 22॥

शुभ ॐ तत् सत् ब्रह्म का यह त्रिविध उच्चारण कहा ।
निर्मित इसीसे आदि में हैं, वेद ब्राह्मण मख महा ॥ 23॥

इस हेतु कहकर ॐ होते नित्य मख तप दान भी ।
सब ब्रह्मनिष्ठों के सदा शास्त्रोक्त कर्म- विधान भी ॥ 24॥

कल्याण- इच्छुक त्याग फल ' तत्' शब्द कह कर सर्वदा ।
तप यज्ञ दान क्रियादि करते हैं विविध विध से सदा ॥ 25॥

सद् साधु भावों के लिये ' सत्' का सदैव प्रयोग है ।
हे पार्थ! उत्तम कर्म में ' सत्' शब्द का उपयोग है ॥ 26॥

' सत्' ही कहाती दान तप में यज्ञ में दृढ़ता सभी ।
कहते उन्हें ' सत्' ही सदा उनके लिये जो कर्म भी ॥ 27॥

सब ही असत् श्रद्धा बिना जो होम तप या दान है ।
देता न वह इस लोक में या मृत्यु पर कल्यान है ॥ 28॥
सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ

हरिगीता

अठारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा --

संन्यास एवं त्याग- तत्त्व, पृथक् महाबाहो! कहो ।
इच्छा मुझे है हृषीकेश! समस्त इनका ज्ञान हो ॥ 1॥

श्रीभगवान् ने कहा --

सब काम्य- कर्मन्यास ही संन्यास ज्ञानी मानते ।
सब कर्मफल के त्याग ही को त्याग विज्ञ बखानते ॥ 2॥

हैं दोषवत् सब कर्म कहते त्याज्य कुछ विद्वान् हैं ।
तप दान यज्ञ न त्यागिये कुछ दे रहे यह ज्ञान हैं ॥ 3॥

हे पार्थ! सुन जो ठीक मेरा त्याग हेतु विचार है ।
हे पुरुषव्याघ्र! कहा गया यह त्याग तीन प्रकार है ॥ 4॥

मख दान तप ये कर्म करने योग्य, त्याज्य न हैं कभी ।
मख दान तप विद्वान् को भी शुद्ध करते हैं सभी ॥ 5॥

ये कर्म भी आसक्ति बिन हो, त्याग कर फल नित्य ही ।
करने उचित हैं पार्थ! मेरा श्रेष्ठ निश्चित मत यही ॥ 6॥

निज नियत- कर्म न त्यागने के योग्य होते हैं कभी ।
यदि मोह से हो त्याग तो वह त्याग तामस है सभी ॥ 7॥

दुख जान कायाक्लेश भय से कर्म यदि त्यागे कहीं ।
वह राजसी है त्याग उसका फल कभी मिलता नहीं ॥ 8॥

फल, संग, तज जो कर्म नियमित कर्म अपना मान है ।
माना गया वह त्याग शुभ सात्त्विक सदैव महान् है ॥ 9॥

नहिं द्वेष अकुशल कर्म से, जो कुशल में नहिं लीन है ।
संशयरहित त्यागी वही है सत्त्वनिष्ठ प्रवीन है ॥ 10॥

सम्भव नहीं है देहधारी त्याग दे सब कर्म ही ।
फल कर्म के जो त्यागता, त्यागी कहा जाता वही ॥ 11॥

पाते सकामी देह तज फल शुभ अशुभ मिश्रित सभी ।
त्यागी पुरुष को पर न होता है त्रिविध फल ये कभी ॥ 12॥

हैं पाँच कारण जान लो सब कर्म होने के लिये ।
सुन मैं सुनाता सांख्य के सिद्धान्त में जो भी दिये ॥ 13॥

आधार कर्ता और सब साधन पृथक् विस्तार से ।
चेष्टा विविध विध, दैव , ये हैं हेतु पाँच प्रकार के ॥ 14॥

तन मन वचन से जन सभी जो कर्म जग में कर रहे ।
हों ठीक या विपरीत उनके पाँच ये कारण कहे ॥ 15॥

जो मूढ़ अपने आपको ही किन्तु कर्ता मानता ।
उसकी नहीं है शुद्ध बुद्धि न ठीक वह कुछ जानता ॥ 16॥

जो जन अहंकृतिभाव बिन, नहिं लिप्त जिसकी बुद्धि भी ।
नहिं मारता वह मारकर भी, है न बन्धन में कभी ॥ 17॥

नित ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय करते कर्म में हैं प्रेरणा ।
है कर्मसंग्रह, करण, कर्ता, कर्म तीनों से बना ॥ 18॥

सुन ज्ञान एवं कर्म, कर्ता भेद गुण अनुसार हैं ।
जैसे कहे हैं सांख्य में वे सर्व तीन प्रकार हैं ॥ 19॥

सब भिन्न भूतों में अनश्वर एक भाव अभिन्न ही ।
जिस ज्ञान से जन देखता है, ज्ञान सात्त्विक है वही ॥ 20॥

जिस ज्ञान से सब प्राणियों में भिन्नता का भान है ।
सबमें अनेकों भाव दिखते, राजसी वह ज्ञान है ॥ 21॥

जो एक ही लघुकार्य में आसक्त पूर्ण- समान है ।
निःसार युक्ति- विहीन है वह तुच्छ तामस ज्ञान है ॥ 22॥

फल- आश- त्यागी नित्य नियमित कर्म जो भी कर रहा ।
बिन राग द्वेष, असंग हो, वह कर्म सात्त्विक है कहा ॥ 23॥

आशा लिये फल की अहंकृत- बुद्धि से जो काम है ।
अति ही परिश्रम से किया, राजस उसी का नाम है ॥ 24॥

परिणाम, पौरुष, हानि, हिंसा का न जिसमें ध्यान है ।
वह तामसी है कर्म जिसके मूल में अज्ञान है ॥ 25॥

बिन अहंकार, असंग, धीरजवान्, उत्साही महा ।
अविकार सिद्धि असिद्धि में सात्त्विक वही कर्ता कहा ॥ 26॥

हिंसक, विषय- मय, लोभ- हर्ष- विषाद- युक्त मलीन है ।
फल कामना में लीन, कर्ता, राजसी वह दीन है ॥ 27॥

चंचल, घमंडी, शठ, विषादी, दीर्घसूत्री, आलसी ।
शिक्षा- रहित, पर- हानि- कर, कर्ता कहा है तामसी ॥ 28॥

होते त्रिविध ही हे धनंजय! बुद्धि धृति के भेद भी ।
सुन भिन्न- भिन्न समस्त गुण- अनुसार कहता हूं अभी ॥ 29॥

जाने प्रवृत्ति निवृत्ति बन्धन मोक्ष कार्य अकार्य भी ।
हे पार्थ! सात्त्विक बुद्धि है जो भय अभय जाने सभी ॥ 30॥

जिस बुद्धि से निर्णय न कार्य अकार्य बीच यथार्थ है ।
जाने न धर्म अधर्म को वह राजसी मति पार्थ! है ॥ 31॥

तम- व्याप्त हो जो बुद्धि, धर्म अधर्म ही को मानती ।
वह तामसी जो नित्य अर्जुन! अर्थ उलटे जानती ॥ 32॥

जब जन अचल धृति से क्रिया मन प्राण इन्द्रिय की सभी ।
धारण करे नित योग से, धृति शुद्ध सात्विक है तभी ॥ 33॥

आसक्ति से फल- कामना- प्रिय धर्म अर्थ व काम है ।
धारण किये जिससे उसी का राजसी धृति नाम है ॥ 34॥

तामस वही धृति पार्थ! जिससे स्वपन, भय, उन्माद को ।
तजता नहीं दुर्बुद्धि मानव, शोक और विषाद को ॥ 35॥

अब सुन त्रिविध सुख- भेद भी जिसके सदा अभ्यास से ।
सब दुःख का कर अन्त अर्जुन! जन उसी में जा बसे ॥ 36॥

आरम्भ में विषवत् सुधा सम किन्तु मधु परिणाम है ।
जो आत्मबुद्धि- प्रसाद- सुख, सात्त्विक उसी का नाम है ॥ 37॥

राजस वही सुख है कि जो इन्द्रिय- विषय- संयोग से ।
पहिले सुधा सम, अन्त में विष- तुल्य हो फल- भोग से ॥ 38॥

आरम्भ एवं अन्त में जो मोह जन को दे रहा ।
आलस्य नींद प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा ॥ 39॥

इस भूमि पर आकाश अथवा देवताओं में कहीं ।
हो प्रकृति के इन तीन गुण से मुक्त ऐसा कुछ नहीं ॥ 40॥

द्विज और क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के परंतप! कर्म भी ।
उनके स्वभावज ही गुणों अनुसार बाँटे हैं सभी ॥ 41॥

शम दम क्षमा तप शुद्धि आस्तिक बुद्धि भी विज्ञान भी ।
द्विज के स्वभावज कर्म हैं, तन- मन- सरलता ज्ञान भी ॥ 42॥

धृति शूरता तेजस्विता रण से न हटना धर्म है ।
चातुर्य स्वामीभाव देना दान क्षत्रिय कर्म है ॥ 43॥

कृषि धेनु- पालन वैश्य का वाणिज्य करना कर्म है ।
नित कर्म शूद्रों का स्वभावज लोक- सेवा धर्म है ॥ 44॥

करता रहे जो कर्म निज- निज सिद्धि पाता है वही ।
निज- कर्म- रत नर सिद्धि सुन किस भाँति पाता नित्य ही ॥ 45॥

जिससे प्रवृत्ति समस्त जीवों की तथा जग व्याप्त है ।
निज कर्म से, नर पूज उसको सिद्धि करता प्राप्त है ॥ 46॥

निज धर्म निर्गुण श्रेष्ठ है, सुन्दर सुलभ पर- धर्म से ।
होता न पाप स्वभाव के अनुसार अपने कर्म से ॥ 47॥

निज नियत कर्म सदोष हों, तो भी उचित नहिं त्याग है ।
सब कर्म दोषों से घिरे जैसे धुएं से आग है ॥ 48॥

वश में किये मन, अति असक्त, न कामना कुछ व्याप्त हो ।
नैष्कर्म्य- सिद्धि महान तब, संन्यास द्वारा प्राप्त हो ॥ 49॥

जिस भाँति पाकर सिद्धि होती ब्रह्म- प्राप्ति सदैव ही ।
संक्षेप में सुन ज्ञान की अर्जुन परा- निष्ठा वही ॥ 50॥

कर आत्म- संयम धैर्य से अतिशुद्ध मति में लीन हो ।
सब त्याग शब्दादिक विषय, नित राग- द्वेष- विहीन हो ॥ 51॥

एकान्तसेवी अल्प- भोजी तन वचन मन वश किये ।
हो ध्यान- युक्त सदैव ही, वैराग्य का आश्रय लिये ॥ 52॥

बल अहंकार घमंड संग्रह क्रोध काम विमुक्त हो ।
ममतारहित नर शान्त, ब्रह्म- विहार के उपयुक्त हो ॥ 53॥

जो ब्रह्मभूत प्रसन्न- मन है, चाह- चिन्ता- हीन है ।
सम भाव सबमें साध, होता भक्ति में लवलीन है ॥ 54॥

मैं कौन कितना, भक्ति से उसको सभी यह ज्ञान हो ।
मुझमें मिले, मेरी उसे जब तत्त्व से पहिचान हो ॥ 55॥

करता रहे सब कर्म भी मेरा सदा आश्रय धरे ।
मेरी कृपा से प्राप्त वह अव्यय सनातन पद करे ॥ 56॥

मन से मुझे सारे समर्पित कर्म कर मत्पर हुआ ।
मुझमें निरन्तर चित्त धर, सम- बुद्धि में तत्पर हुआ ॥ 57॥

रख चित्त मुझमें, मम कृपा से दुःख सब तर जायगा ।
अभिमान से मेरी न सुनकर, नाश केवल पायगा ॥ 58॥

' मैं नहिं करूँगा युद्ध' तुम अभिमान से कहते अभी ।
यह व्यर्थ है निश्चय प्रकृति तुमसे करा लेगी सभी ॥ 59॥

करना नहीं जो चाहता है मोह में तल्लीन हो ।
वह सब करेगा निज स्वभावज कर्म के आधीन हो ॥ 60॥

ईश्वर हृदय में प्राणियों के बस रहा है नित्य ही ।
सब जीव यन्त्रारूढ़ माया से घुमाता है वही ॥ 61॥

इस हेतु ले उसकी शरण सब भाँति से सब ओर से ।
शुभ शान्ति लेगा नित्य- पद, उसकी कृपा की कोर से ॥ 62॥

तुझसे कहा अतिगुप्त ज्ञान समस्त यह विस्तार से ।
जिस भाँति जो चाहे वही कर पार्थ! पूर्ण विचार से ॥ 63॥

अब अन्त में अतिगुप्त है कौन्तेय! कहता बात हूँ ।
अतिप्रिय मुझे तू अस्तु हित की बात कहता तात हूँ ॥ 64॥

रख मन मुझी में, कर यजन, मम भक्त बन, कर वन्दना ।
मुझमें मिलेगा, सत्य प्रण तुझसे, मुझे तू प्रिय घना ॥ 65॥

तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो ।
मैं मुक्त पापों से करूंगा तू न चिन्ता व्याप्त हो ॥ 66॥

निन्दा करे मेरी, न सुनना चाहता, बिन भक्ति है ।
उसको न देना ज्ञान यह जिसमें नहीं तप- शक्ति है ॥ 67॥

यह गुप्त ज्ञान महान भक्तों से कहेगा जो सही ।
मुझमें मिलेगा भक्ति पा मेरी, असंशय नर वही ॥ 68॥

उससे अधिक प्रिय कार्य- कर्ता विश्व में मेरा नहीं ।
उससे अधिक मुझको न प्यारा दूसरा होगा कहीं ॥ 69॥

मेरी तुम्हारी धर्म- चर्चा जो पढ़एगा ध्यान से ।
मैं मानता पूजा मुझे है ज्ञानयज्ञ विधान से ॥ 70॥

बिन दोष ढ़ऊँढ़ए जो सुनेगा नित्य श्रद्धायुक्त हो ।
वह पुण्यवानों का परम शुभ लोक होगा मुक्त हो ॥ 71॥

अर्जुन! कहो तुमने सुना यह ज्ञान सारा ध्यान से ।
अब भी छुटे हो या नहीं उस मोहमय अज्ञान से ॥ 72॥

अर्जुन ने कहा --

अच्युत! कृपा से आपकी अब मोह सब जाता रहा ।
संशय रहित हूं सुधि मुझे आई, करूँगा हरि कहा ॥ 73॥

संजय ने कहा --

इस भाँति यह रोमाँचकारी और श्रेष्ठ रहस्य भी ।
श्रीकृष्ण अर्जुन का सुना संवाद है मैंने सभी ॥ 74॥

साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण का वर्णन किया ।
यह श्रेष्ठ योग- रहस्य व्यास- प्रसाद से सब सुन लिया ॥ 75॥

श्रीकृष्ण, अर्जुन का निराला पुण्यमय संवाद है ।
हर बार देता हर्ष है, आता मुझे जब याद है ॥ 76॥

जब याद आता उस अनोखे रूप का विस्तार है ।
होता तभी विस्मय तथा आनन्द बारम्बार है ॥ 77॥

श्रीकृष्ण योगेश्वर जहां अर्जुन धनुर्धारी जहाँ ।
वैभव, विजय, श्री, नीति सब मत से हमारे हैं वहाँ ॥ 78॥
अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।